CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१.२ प्रि

प्रिया नीलकण्ठी

कुबेरनाथ राय

*

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

...े निम्नांकित तिथि पर या उसके पूर्व
...ो लौटा...

अमितकृष्णदेव
१६.११.६८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रिया नीलकण्ठी

० ० ० ० ० ० ०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रिया नीलकण्ठी

कुबेरनाथ राय

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक–२६१
सम्पादक एवं नियामक :
लक्ष्मीचन्द्र जैन

Lokodaya Series : Title No. 261
PRIYA NEELKANTHI
(essays)
KUBERNATH RAI
Bharatiya Jnanpith
Publication
First Edition 1968
Price Rs. 3.00

©

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
प्रधान कार्यालय
९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७
प्रकाशन कार्यालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५
विक्रय-केन्द्र
३६२०/२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६
प्रथम संस्करण १९६८
मूल्य ३.००

सन्मति मुद्रणालय,
वाराणसी–५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

● ●

१. गूलरका फूल····१
२. हेमन्तकी सन्ध्या····५
३. मधु-माधव····१२
४. सनातन नीम····२४
५. मनियारा साँप····३४
६. डूबता हुआ देवयान····४४
७. आछीका पेड़, पैशाची; जरथुस्त्र और मैं····५३
८. अवरुद्ध त्रेता : प्रतीक्षारत धनुष····६३
९. सम्पातीके बेटे····७१
१०. चण्डी-थान····८१
११. निर्गुण नक़्शे : सबुज-श्याम धरती····९७
१२. निर्वासन और नीलकण्ठी प्रिया····१०७
१३. शमी वृक्षपर लटकते शव···· ११६
१४. बहुरूपी···· १२७
१५. एक ग्रीक प्रोषितपतिकाका आत्मकथ्य···· १४५
१६. यायावर रस···· १५७

● ●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रिया नीलकण्ठी

० ० ० ० ० ०

[ललित निबन्ध]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भूमिका :

गूलरका फूल

(एक अरण्य-कथा)

"गूलरका फूल होता है क्या ?" बकने अपने मित्रोंकी ओर चोंच करके प्रश्न किया।

आज फिर काक, बक और उलूक तीनों मित्र काम्यक वनकी उत्तरी-पूर्वी सीमापर स्थित गूलर वृक्षके नीचे इकट्ठे हुए। बग़लमें ही निर्मल जलवाली पुष्करिणी है जिसमें महाभाग युधिष्ठिर स्नान किया करते थे। स्नानोपरान्त कभी-कभी वे इसी गूलरके नीचे बैठकर सहस्रशीर्षा पुरुष विष्णुका ध्यान किया करते थे। और जब कभी-कभी यह ध्यान अति दीर्घकालीन हो जाता और धर्मराजके ललाटपर अरुण तिलक करनेवाली किरणें उनकी पीठपर पड़ने लगतीं तो भीमसेन भूखसे छटपटाकर बेमतलब द्रौपदीसे लड़ बैठते थे और नकुल-सहदेव बार-बार देखकर लौट जाते कि भैयाकी पूजा समाप्त हुई या नहीं। यह गूलरका वृक्ष अति पुरातन था। द्वापरसे पूर्व, त्रेतासे भी पहले, जब नारायणने जगत्के उद्धारके लिए नृसिंह वपु धारण किया था तब यह वृक्ष अपनी कुमारावस्थामें था। पास ही पार्श्वमें एक कटहलका नवीन वृक्ष महाबाहु भीमसेनने आरोपित कर दिया था। महापराक्रमी वायुपुत्र लघु आकारवाले फलोंको अवहेलनाकी दृष्टिसे देखते थे।

यह सतयुगी वृक्ष-पुरुष युगोंके ज्वार-भाटेके बीच मौन साक्षी-सा खड़ा रहा। शृंगार, वीर, करुण आदि नवरसोंसे परे इसका संन्यासी मन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी कभी-कभी अतीत-माधुरीकी स्मृतिमें विगलित हो उठता था। विशेषतः रात्रिकी नीरवतामें द्रौपदीकी करुणाका उसे ध्यान हो जाता, तो इस युगोंके वृद्ध सहचरके हृदयको चीरती हुई एक लम्बी साँस निकल जाती।

इस 'श्वेत वाराह-कल्पे, कलियुगे' प्रथम चरणके मध्यमें जब सहस्रानीक अर्जुनके वंशज उदयनका कौशाम्बीमें, प्रसेनजित्का अवधमें एवं अजातशत्रुका मगधमें राज्य चल रहा था, एवं विष्णुके बौद्धावतारका पदार्पण हो चुका था, काम्यक वनकी उत्तरी-पूर्वी सीमापर स्थित इसी गूलरके पेड़के नीचे बकने काक और उलूकसे पूछा—"गूलरमें फूल लगता है क्या ?"

"हमने तो कभी नहीं देखा भाई ! उड्डीन-पड्डीन आदि शताधिक गतियोंसे ससागरा धराको कई बार माप डाला पर गूलरका फूल कहीं नहीं मिला। परन्तु मैं दिनकी बात कह रहा हूँ। रातकी बातोंका विशेषज्ञ तो मित्र उलूक है। पूछकर देखो।"

"क्यों बन्धु, कुछ इसपर प्रकाश डाल सकते हो ? तुम्हें तो अन्धकारकी मायाविनी गतियोंका भी परिचय है।"

उलूकने शान्त भावसे उत्तर दिया, "देखा तो मैंने भी कभी नहीं और न कभी अनुसन्धान करनेकी चेष्टा ही की। पर बड़ी अचरजकी बात है ! भला विना फूलके फल कैसे होगा ?"

"काकभुशुण्डिके कुलपतित्वमें मैं गरुड़-जैसे बलवान और उजड्ड छात्रका सहपाठी था। परन्तु इस विषयपर कोई विशिष्ट आलोचना सुननेमें नहीं आयी। हाँ, मनुष्योंमें प्रचलित है कि गूलरका फूल होता है एवं यह आधी रातको खिलता है, अल्प कालके लिए। फिर अन्तर्धान। उस समय यक्षोंका इसपर अदृश्य पहरा बैठता है। सुनता हूँ एक बार एक पंखड़ी टूटकर एक दहीवाली हाँड़ीमें गिरी, सो दिन-भर वह दही समाप्त नहीं हुआ।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"ऐसा ?"—काककी बुद्धिमत्ता और विचित्र बातको सुनकर उन दोनोंने चकित स्वरमें कहा।

"तब तो आज रात, भूत हो या प्रेत, यहीं इस बातकी जाँच हो जाये।" बकने, जो निरीक्षणका स्वभावतः प्रेमी था, सुझाव दिया।

तीनों साहसी वीरोंने यही निश्चय किया। भगवान् सूर्यनारायण अपनी पीत अरुण-आभासे इस धरतीको राग-मय कर रहे थे। धीरे-धीरे दबे पाँव श्यामली उतरने लगी। पक्षियोंने थोड़ी देर दुःख-सुखकी कथा एक-दूसरेसे कहकर रैन-बसेरा लिया। तारे उगे। रात्रिका काल-रथ क्षण-प्रतिक्षण बढ़ता गया। हवा धीमी हो चली। वातावरणसे भय और वैराग्यके अनुभवोंका संवेदन मिलने लगा। इस भयानक चुप्पीसे गूलरकी सर्वोच्च शाखापर ये तीनों मित्र भय और उत्साहकी मिश्रित भावदशामें आधी रातके आनेकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

ठीक आधी रातको गूलरके तनेको चीरती हुई दीर्घ निःश्वास निकली। बक और अन्य दो मित्र सावधान हो गये। इसी समय जम्हाई लेते हुए कटहलने पूछा, "दादा, आज क्यों दुःखी ज्ञात होते हो ?"

"क्या कहूँ ?" गूलरने उत्तर दिया। "मेरी शाखापर आज तीन अतिथि आये हैं। विश्रामके लिए नहीं। मेरे मस्तककी शोभा—मेरा पुष्पदल देखनेकी अभिलाषासे। मैं इन्हें कैसे समझाऊँ ? मेरे पास फूल कहाँ ? इन्हें निराश लौटना होगा। ऐसा फूल तो कभी नहीं, कहीं नहीं खिला जैसा लोग कहा करते हैं। यह तो मनुष्य-लोकके मोहका प्रतिरूप है। मेरा शरीर तो फोड़ेकी तरह स्वादहीन फलोंसे लदा है जिन्हें कोई भी जीव नहीं पूछता है। क्या कहूँ ? किसीके काम नहीं आया ?" गूलरने फिर लम्बी साँस ली।

"दादा, ऐसा क्यों हुआ ? तुम तो बड़े धर्मात्मा हो। तुम्हारी छायामें महाभाग पाण्डवोंने विश्राम किया है। फिर विधाताकी ओरसे तुम्हें पुण्यका वरदान क्यों नहीं मिला ?"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"मेरी इस अवस्थाका कारण और ही है। एक समय धरतीपर हिरण्यकशिपुका अत्याचार दुःसह हो गया। वेद लुप्त हो गये। ब्राह्मणोंकी जीभ काट ली गयी, कुछकी शस्त्रसे और कुछकी स्वर्णसे। उस समय भक्तवत्सल विष्णुने असुरके विनाशके लिए नृसिंह रूप धारण किया। आज भी उस अपूर्व तेजोमय सिंह पुरुषका स्मरण करके रोमांच हो जाता है।" गूलर क्षण-भर उस रूपकी स्मृतिमें मौन रहा। फिर आगे बोला, "असुरका वध करनेके पश्चात् उनके नखोंमें भयंकर जलन होने लगी। यह जलन जब किसी उपायसे शान्त न हो पायी तो नारायण पीड़ित होकर हमारे पास आये। तीनों लोकोंके त्राता जनार्दनको अपने दरिद्र द्वारपर खड़ा याचनाकी मुद्रामें देखकर मैं धन्य-धन्य हो गया और उन्हें अपना शरीर समर्पित कर दिया। उनकी नखज्वाला तो मेरे शरीरमें नखों-के धँसानेसे शान्त हो गयी। परन्तु उस दाहको खींचकर मेरा शरीर विषाक्त हो गया। तभीसे फोड़ेकी तरह फल-व्रण ही मुझमें लगते हैं—पुष्प मुझमें नहीं लगता। फल भी रसहीन और कीटपूर्ण होते हैं!"

"दादा, तुमने उसके विषको आत्मसात् किया जिसके चरणोंसे पतित-पावनी गंगा निकली है।—तुम्हारे पुष्प तुम्हारी मस्तक-मणियाँ तुम्हारे अन्तरमें हैं। तुमको ही देखकर मुझे भी फूलोंका शौक़ न रहा। मेरे फूल भी नाम-मात्रको ही होते हैं। मैं भी पुष्पमाल धारण करके प्रेमियोंका हृदय विगलित करने और जगत्को रिझानेकी अपेक्षा परिपुष्ट और दीर्घाकार फल देनेकी चेष्टा करता हूँ।" कटहलने कहा।

"चराचरको रिझानेसे क्या लाभ? जिन्हें वास्तवमें रिझाना है वे तो अन्तर्मनके सौन्दर्यको देखते हैं। औरोंसे क्या लाभ?" कहकर गूलर मौन हो गया।

बक, काक और उलूक तीनों अलभ्य कुसुमकी आशामें आये थे। उससे भी बढ़कर अलभ्य और मनोरम कुसुम उन्हें मिल गया। तीनोंने मन-ही-मन गुरु और शिष्य दोनोंको प्रणाम किया।

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हेमन्तकी सन्ध्या

हेमन्तका सबसे बड़ा आकर्षण है पत्तियोंका पीला पड़ जाना और ज़रा-सी हवा डोलनेपर भू-पतित हो जाना। पत्तियोंका झरना धरतीके सौन्दर्यकी करुणतम अवस्था है। करुणामें एक उदास सौन्दर्यकी उपलब्धि एक सर्व-साधारण अनुभव है। करुणा विषादकी रोमाण्टिक अवस्था है। वही अनुभूति जब क्रूर रूपमें घटित होकर कठोर सत्य बन जाती है तो हम उसे विषाद कहते हैं। मृत्युका बोध विषाद है, करुणा नहीं। करुणा किसी-न-किसी रूपमें जीवनसे संलग्न रहती है। इसमें आस्थाका एक क्षीण धागा बँधा रहता है।

विषादमें सारे मूल्य अर्थहीन हो जाते हैं। आधुनिक युगको हम विषादका युग कह सकते हैं। आज जो घटित हो रहा है वह ट्रेजेडी नहीं। ट्रेजेडीसे तो मनुष्यका धरातल सदैव ऊँचा उठता है। हमारा युग स्नेह और प्रीतिमें तो रिक्त है ही, करुणामें भी यह अति दरिद्र है। यह इतना दीन हो चुका है कि इसकी अन्तिम पूँजी–विषाद–भी धीरे-धीरे चुक रही है और इसके शेष हो जानेपर यह आत्मघातसे भी बुरी अवस्था होगी।

बात हेमन्तको लेकर चली थी। पीली पत्तियोंके उदास सौन्दर्यके बाद उसका दूसरा रूप-विन्यास है धीरे-धीरे उतरती हुई ठण्डी साँझ। कमरेमें अकेले बैठकर 'शामेग़म' का मज़ा, उदासीनताका रसबोध, निर्मम होते हुए भी नशीला है। रिक्ततामें एक स्वाद है। यह सिर्फ़ लत लग जानेकी बात है। बन्द वातायनके बाहर अरुणिमा धीरे-धीरे गलकर घुल चुकी है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पेड़ोंके सिरपर ओसकी मोटी तह बादलोंकी-सी जम गयी है, जो क्षण-प्रतिक्षण अंगुल-अंगुल करके नीचे खिसक रही है। परन्तु आँखोंसे इस क्रमिक आरोहणको हम पकड़ नहीं पाते हैं। धीरे-धीरे कुहासेकी प्लावन-धारा पवनकी तरंगोंपर बहने लगती है। पर धरतीका राजमुकुट महान् मनुष्य और सृष्टिके अन्य क्षुद्र जीव वातायन-बद्ध होकर या नीड़-बद्ध होकर अपनी क्षुद्र सीमामें ही अपनेको पानेका प्रयास कर रहे हैं। दिन-भर हाट-बाट गली-कूचोंकी खाक छाननेपर भी हम जब अपनेको न पा सके—मनचाही उपलब्धि न हो सकी तो जीवनका सारा दैन्य इसी क्षुद्र सीमामें केन्द्रित करके इस बँधी, अर्गला-बद्ध कमरेकी, दुनियासे आत्म-त्राणकी भीख माँग रहे हैं। पर यह अर्गला उन गली-कूचों, पार्कों-मैदानों, सिनेमागृहों और खुले अनन्त विस्तृत नील वितानके तले भी, जो दया करके अपना द्वार सबके लिए मुक्त खोलकर कालके प्रारम्भसे ही खड़ा है, हमारा पिण्ड छोड़ती है? हम जहाँ जाते हैं वहीं यह भी है। यह कर्णके कवचकी तरह जन्मजात है। यही हमारी ट्रेजेडी है कि जो हमारे भीतर शिरा-शिरा, धमनी-धमनी बह रही है और बाहर-भीतर भी सब-कुछको व्याप्त किये है, उस विशाल अन्तर्वाहिनी विभुप्लाविनीको इस लौह-कवचके कारण अस्वीकृत करते चलते हैं। यह बूँदका क्षुद्र अहम् है जो यह अपने-को ही धारा मान बैठी और छिटककर दूर जा पड़ी। यह दर्प विषादकी स्थिति है! आत्मघात है!

अन्धकार भीग गया है। पर गुंजलकबद्ध मैं फन काढ़े बैठा हूँ। स्वयं केन्द्रित। नया मसीहा बोलता है—इस अकेलेपनपर, इस अजनबीपन-पर। 'हम अपने ही अजनबी हैं'। 'मनुष्यको अकेली सत्ताका अभिशाप मिला है। बिना किसी आधारके उसे प्रत्येक पगपर अपनेको ढूँढ़कर आविष्कृत करना है! वर्त्तमानमें वह निराधार—त्रिशंकु-स्थितिमें त्यक्त रूपमें है'. (एक्जिस्टेन्सियलिज्म ऐण्ड ह्यूमनिज़्म'—सार्त्र, पृ० ३४–३५)। पर इतना भार बिना किसीका स्नेह-स्पर्श पाये वह कैसे वहन करेगा?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतीतकी भूमि उसके पैरोंके नीचेसे खिसक गयी—उसका स्वयं भी उससे अजनबी हो गया, तो फिर वह किसका स्नेह-स्पर्श, किसका बल पाकर इतना भार उठावे ? मेरे मित्र, तुम जो नयी 'फिलॉसफ़ी' पढ़ते हो, 'नयी आध्यात्मिकता' की चर्चा करते हो, नये मूल्योंके सृजनमें विश्वकर्माकी तरह लगे हो, मनुष्यके इस संकटको देखकर करुणा क्यों नहीं करते ? पर तुम कहते हो—'इस विकट स्थितिका निराकरण भी है।'

'क्या ? आत्मघात ?'

'नहीं' तुम्हारा हाथ उसी तरह ऊपर उठ जाता है जैसे बुद्धने 'चरथ भिक्खवे चारिकं....' कहते समय उठाया था, 'पूर्ण विप्लव !' फिर तुम रुक-रुककर आँखें बन्द किये हुए ऐसे बोलते हो गोया कूप गर्त्तसे तुम्हारी आवाज़ आ रही हो—'सारे मूल्योंको फिरसे गढ़ना होगा। नये सिरेसे ! नयी विधा, नयी कवि-प्रसिद्धि और सर्वथा नवीन पद्धतिके द्वारा व्यक्तिको 'पूर्ण व्यक्ति' करना होगा। सबसे अलग, सबसे मुक्त।'

'ओह ! समझा ! अरविन्द....'

'नहीं, नहीं, नहीं !' तुम चौंककर कहते हो—'अतिमामें—ट्रान्सेण्डेन्समें, हमारा विश्वास नहीं। अध्यात्मका पुराना हल हमारे कामका नहीं।'

पर 'फूलहिं फरहिं न बेंत जदपि सुधा बरसहिं जलद।' विरंचि-जैसा गुरु मिलनेपर भी हम ऐसोंको चेत कहाँसे आयेगा। बातकी ग्रन्थि जैसी थी वैसी ही रह गयी।

इतनेमें कोई लालटेन रख जाता है। प्रकाश मुझे उस गुंजलकसे मुक्त कर देता है।

'इस साल भी अरहर गयी। ऐसा पाला तो कभी पड़ा ही नहीं था। रबीकी फ़सल भी आधी चौपट हो गयी।'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस वैशम्पायन-उवाचके बाद बड़का बाबा चिलममें तम्बाकू भरने लगे। बाहर नीमकी छायामें अलाव जला है। किसीने सूखे घास-फूसकी नयी आहुति दी और लपट लप-लप करके ऊँची चढ़ने लगी। ऊपरकी पत्तियाँ थर-थर काँप उठीं और कुछ तो पुण्यक्षीण आत्माओंकी तरह उस अग्निशिखामें टूट-टूटकर गिरने लगीं। आबालवृद्ध सबके मुखपर प्रसन्नता छा गयी। जीवनमें प्रसन्नताके क्षण बहुत ही मँहगे होते हैं। ऐसे मामूली क्षणोंका भी अमित मोल है जो हलकी-सी ऊष्माके द्वारा देह-मनको स्फूर्त या पुलकित कर देते हैं। बाबाने चिलम भरकर कहा, 'इस वर्ष अगहनी भी ग़ायब ही रही। क्या ज़माना है! जिन खेतोंमें बारह मन बीघे काटा था उनमें दो मन बीघा किसी तरहसे गया।' इसके बाद तो बातोंका सिलसिला छूटा। भाग्य—दैवको कोसनेके बाद अगल-बग़लकी परिषद्ने अनेक प्रश्नों यथा—ग्राम-सेवक, पंचवार्षिक योजना, नहर विभागकी बदमाशी, चीनी आक्रमण, विलायती खादकी व्यर्थता और फिर चीनीका अभाव आदि-आदिपर अस्त-व्यस्त टीका-टिप्पणी की। साथ-साथ गाँवके 'उत्तम' चरित्रोंकी चर्चा और परनिन्दाकी चाशनीने उक्त शुष्क विषयों-को मीठा, नमकीन और फिर तिक्त बनाया। पर समस्त प्रक्रियामें बाबा या तो चुप रहे, नहीं तो 'हाँ, हूँ' मात्र करते रहे। खेती-बारीसे आगे उनके दो ही राजनीतिक विषय हैं। एक तो सन् 'सत्तावनकी ग़दरमें अपने पितामहकी करतूतोंका विशद वर्णन और दूसरी सन् 'चौदहकी लड़ाई, जिसमें स्वयं सैनिक बनकर भरती हुए थे परन्तु मोरचेका मुँह नहीं देखा और सारी वीरता हवलदारों और सूबेदारोंसे भिड़न्त तक ही सीमित रही, जो स्वभाववश अक्सर हो जाती थी। काँग्रेसकी राजनीतिमें उन्हें अरुचि है। इसका एक व्यक्तिगत कारण है। अपने लघुभ्राताको महाकष्ट उठाकर बारह वर्ष तक पढ़नेका खर्च कलकत्ते भेजते रहे और वे सज्जन इनकी आँखोंपर पट्टी बाँधकर पढ़ाई-लिखाईके नामपर देश-भक्ति (बाबाके शब्दोंमें 'आवारागरदी') करते रहे। स्वामी सत्यदेवका नाम किसी तरहसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जान गये हैं और कहा करते हैं, 'सतदेउआने हमारा घर बिगाड़ दिया।' गान्धीजीपर उनके मरनेके बाद इनकी श्रद्धा बढ़ी है। पर वह बापूकी राजनीतिक क्षमताके कारण नहीं। उनकी राम-भक्तिके कारण उनको ये 'ऋषि' मानने लगे हैं। प्रमाणमें तुलसीदासको उद्धृत किया करते हैं:—

"जन्म जन्म मुनि जतन कराहीं।
अन्त राम कहि पावत नाहीं॥"

वैशम्पायन तो प्रथम सूत्रके उवाचके पश्चात् चुप रहे। प्रधान वार्त्ता तो अनेक जनमेजयोंके द्वारा हुई जो उस परिषद्‌की शोभा बढ़ा रहे थे। मेरे मनमें चिरकालसे जलनेवाले इस अलावके साक्ष्यमें गाथा-गान करनेवाले वैशम्पायनोंकी मुखाकृतियाँ घूम गयीं। तहसीलीके सहदेवराम चपरासीकी बड़ी-सी पगड़ी अब भी याद है। वे मेरे बचपनमें महाभारतकी कथाएँ अपनी पूरी योग्यताका उपयोग करके सुनाते थे। उन दिनों इस बातकी पूरी जानकारी रखता था कि किस योद्धाने किस बाणका प्रहार किस अवस्थामें किया। मित्रोंमें इस जानकारीके बलपर मैं विद्वान् भी गिना जाता था। इस जानकारीका प्रारम्भिक श्रेय सहदेवरामको है। दूसरे स्रोत हैं गीता प्रेसके महाभारतका भाषा-संस्करण और सबल सिंह चौहानका 'महाभारत'। एक समय था कि उत्तर प्रदेशके गाँवोंमें तुलसीदासके रामायणके बाद सबल सिंहका ही पाठ होता था। हमारे यहाँ सबल सिंह चौहानके सर्वोत्तम वाचक थे पड़ोसी गाँवके ठाकुर घुरहू सिंह! उस वृद्धका विशाल वपु, रजपूती चाल और वृद्धावस्थामें भाला लगाकर चलनेका मोह अब भी याद है। बाबासे उनकी खूब पटती थी। देहातमें वे 'आल्हा' के विद्वान् माने जाते थे। उन्हींकी बदौलत मेरे गाँवमें और आस-पासके गाँवोंमें लोगोंका विश्वास है कि अब भी विन्ध्याचलकी किसी गुफ़ामें दो अमर आत्माएँ एक साथ रह रही हैं—आल्हा और अमरसिंह जो सन् सत्तावनवाले कुँअरसिंहके भाई हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आज वह वीरगाथायुग नहीं रहा। उस परम्पराका ध्वंस बहुत पहले ही हो गया। परन्तु वीरगाथा युगका अभिमान अभी कल तक नहीं मरा था। पूँजीवादी संस्कृतिके संस्कार अब भी ठीक तौरपर जम नहीं पाये हैं। पर इतना तो निश्चय है कि युगधर्म बदल रहा है। आज नहीं तो कल हम अपनेको दूसरे रूपमें पायेंगे। ग्राम-संस्कृति और वीरगाथा काल—दोनोंकी सम्पूर्ण मृत्यु साथ-ही-साथ होगी। अब अधिक देर नहीं। परन्तु यह भी लगता है कि ग्राम संस्कृतिके महलपर जिन मध्यवर्गीय संस्कारोंका महल खड़ा हो रहा है वह अति भयावह वंचनाका दुर्ग है। प्रजातान्त्रिक पद्धतिके द्वारा 'नायकों' की मृत्यु हो जायेगी, क्योंकि 'नायकत्व' का मापदण्ड वीरगाथाकालीन 'हीरोइक' या सामन्तवादी आदर्शोंपर आधारित है। पर उसके स्थानपर स्थापित व्यक्ति अपनेको भूफोड़ एवं स्वतन्त्र मानकर स्थिति भयावह कर देगा। वीरगाथाकालीन संस्कारों और ग्राम-संस्कृतिमें व्यक्ति किसी नायकके सम्मुख नत-मस्तक होते हुए भी अपनेको पूरे समाजसे संयुक्त किये हुए था। वह व्यक्तिवादी नहीं था। लेकिन मध्यवर्गीय संस्कृतिका पोषित व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र सत्ताका हुंकार करता है। इसीसे आज कोई जनमेजय नहीं, सभी वैशम्पायन-ही-वैशम्पायन हैं। (नायकसे मेरा तात्पर्य किसी राजा-ज़मींदारसे नहीं बल्कि अतीतके 'चरित-नायकों' या 'राष्ट्रीय नायकों' से है। एक समय था कि महात्मा गान्धी ऐसे चरित-नायककी भूमिका निभा रहे थे।)

राष्ट्रीय जीवनकी यह ट्रेजेडी दोहरी है। एक ओर 'व्यक्ति' है जो बुद्धिवादका जामा-जोड़ा पहनकर मिथ्या स्वांगका खूब रस ले रहा है और घूम-घूमकर अजनबी बननेका विज्ञापन कर रहा है। 'मेरी ओर देखो मैं अजनबी हूँ। मेरे पास सिर ही है, धड़ नहीं। मेरी ओर देखो मैं कितना महान् हूँ, क्योंकि मैं अजनबी हूँ।' खूबी तो यह है कि इस बुद्धिवादके जामेमें वह डूब-सा गया है और अपनेको प्रत्येक दशामें प्रेत-सरीखा प्रस्तुत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करनेमें ही अपनी महत्तम पूजा और महत्तम सिद्धि समझ रहा है। दूसरी ओर सामूहिक जीवनका दीन नग्न कबन्ध है। इस कबन्धपर 'स्टेट' जो उस बुद्धिवादी राहुका रिश्तेदार बन गया है, एक मानवीय अमानवीय सिर काटकर 'चस्पाँ' करनेकी सोच रहा है, पर स्वतः इसके साथ संयुक्त होनेमें इसे अपनी तौहीनी नज़र आ रही है। पता नहीं यह नवीन शीश इस दीन-हीन कबन्धको विनायक बनायेगा अथवा यह दशमुख रावणका मूर्द्धाभिषिक्त ग्यारहवाँ शीश होगा।

हेमन्तकी करुणामयी उदास सन्ध्याने इस प्रश्नको उठाया है। परन्तु उत्तर.... ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मधु-माधव

कहनेको तो तीस वसन्त पार कर चुका। पर उत्तरार्द्धके वसन्तोंको निदाघ कहनेमें भी संकोच होता है। निदाघमें बरसती आग, जलती धरती और तप्त आकाश दुःखमय होते हुए भी तथ्य हैं। कटु-तिक्त ही सही। कुछ तो मिला जो जीवनके 'अस्ति' पक्षमें आता है। पर कुछ अभागे क्षण ऐसे भी आये हैं जिन्हें काल-पुरुषकी उन साँसोंकी पाँतमें नहीं बैठा पाता हूँ जिनमें मेरी आत्मामें कटु-मधु एवं गुण-दुर्गुणके गुम्फ फूटे हैं। इन्हीं गुम्फोंके समवायको 'मैं' कहकर पुकारता हूँ। इसी 'मैं' के काग़ज़ी चेहरोंको स्थिति-दर-स्थिति बदलता जाता हूँ, एवं स्वतः अदृश्य छाया-की तरह इस 'मैं' के साथ-साथ चलता हूँ। काल-पुरुषकी वे साँसें, जिनकी ऊष्मा पीकर वह मेरा 'मैं' विकसित हुआ है, पूर्वार्द्धके वसन्तोंसे ही मिली हैं। उत्तरार्द्ध या तो अर्थहीन, रिक्त रहा, नहीं तो अशुभको भूमिकाके रूपमें अकाल वसन्त लाया। और अब तो इतना 'डल' हो गया हूँ कि फागुनी शाम, फागुनी वातासकी अनुभूति नहीं हो पाती। मनकी मनुहार-के लिए प्रतीकोंको ढूँढ़ता हूँ। प्रतीकोंके सहारे हरीतिमाके अभियानको आत्मामें उतारनेकी चेष्टा करता हूँ। पर आत्मा तक पहुँचनेकी राह तो शिराओं और धमनियोंके चक्रव्यूहसे होकर गयी है। करूँ तो क्या करूँ? तुम इसे बुद्धिवाद कहो, पर मैं तो इसे अपनी ट्रेजेडी ही मानता हूँ।

ये प्रतीक भी मुझे अपने पूर्वार्द्धसे ही मिले हैं: फूली हुई सरसोंके खेत और बौराये हुए आम। अंकुरण-कालमें ही मनके दोनों पत्तोंने इनसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यारी बाँधी थी। पत्तोंका रूप बदल गया, शाखाएँ फूटीं, असंख्य पल्लवोंका सिरपर मुकुट बँधा, पर मेरा मन इन्हीं दो का रहा। बादमें वर्ण-वर्णके जाने-अनजाने पेड़-पौधों, विविध मेघपुंजों, विविध आकाशोंसे मित्रता स्थापित हुई, पर इन दो-जैसा नहीं मिला। तभी आज भी वसन्त-कालमें पराजयसे दग्ध मन इन्हींके अन्दर उल्लास खोजता है। क्षितिज तक फैले हुए सरसोंके पीले खेतोंमें खड़ा होनेपर ऐसा लगता है कि चटक पीली रोशनीके समुद्रमें खड़ा हूँ, आत्मा फैलने लगती है, और इसके मुक्त विस्तारके कारण छाती अपने-आप चौड़ी होने लग जाती है। फूली सरसोंका पीत सौन्दर्य आत्मामें अतीव उल्लास भर देता है। आत्मा अशरीरी तत्त्व है इसीसे इसका स्नान-जल भी प्रकाश, अशरीरी ज्योति, है। 'पीत' शब्द आज विदेशी भाषाके प्रभावसे भले ही बदनाम हो, पर चटक पीले रंगमें अवगाहनसे आत्मामें नवीन उल्लास, नवीन स्फुरण उद्भूत होता है। जैसे मनपर प्रकाश-किरणोंकी वर्षा हो रही हो।

वसन्त उल्लासकी ऋतु है। वैष्णवोंने इसी उल्लासको रसकी दीक्षाका माध्यम बनाया है। इसमें न तो ग्रीष्मकी रूमानी दग्धता है और न पावसकी पच-पच पनियल हरी-हरी मादकता। वसन्तके सौन्दर्यमें जो उल्लास मिलता है वह जैविक (बॉयलॉजिकल) नहीं है। हाँ, ऐसा माना जा सकता है कि यह एक सगुण अनुभूति है और इसकी सगुणता इसे देहके अन्दर स्थित उन सहस्र शम्पा-पथोंसे मिली है जिन्हें शिरा-धमनी और स्नायु कहते हैं और जिनसे होकर यह अनुभूति अतिमाके स्तर तक पहुँचती है। अतिमा (ट्रान्सेण्डेन्स) में पहुँचकर यह दैहिक अनुभूति साधारणीकृत होकर सात्त्विक सगुण अनुभूति बन जाती है। इसीसे इसमें रसबोध मिलता है परन्तु ईहा नहीं। क्षुधा या ईहा तो लालसाका धर्म है, उल्लासका नहीं। शुद्ध दैहिक संवेदनमें ईहामृग सदैव घात लगाये दुबका हुआ बैठा है। पावसके श्याम मेघों और श्यामल हरीतिमामें इसी लालसाका प्रबल वेग नित्य फूटता रहता है। देह और मन या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तो व्यथित हो जाता है अथवा उत्तेजित पर वसन्त-श्रीमें निरन्तर उल्लास है। इसमें प्रफुल्लता है पर उत्तेजना नहीं। जीवनमें ऐसे क्षण कितने भी कम क्यों न आयें, पर आते अवश्य हैं, जब हमारा सौन्दर्य-बोध ईहा-मुक्त होता है। यहाँ मनोविज्ञानका ताप-मापक यन्त्र जो शरीर और मनके कुछ अंशों तक ही सीमित है, कोई काम नहीं आता। 'से देशेर कथा ए देशे कहिले, लागिबे मरम व्यथा।' यह उल्लास ऐसा है कि बस, 'समुझि मनहिं मन रहिए।' भावके देहसे ही स्नान करना है। नीर-का स्पर्श नहीं करना है। चण्डीदास कहते हैं: 'राधा, ऐसा ही करनेसे तू न तो सती कहायेगी और न अ-सती। तभी तू धरतीके माँझ रहेगी।'

क्या उल्लासको आंगिक स्तरपर ग्रहण नहीं किया जा सकता? क्या यह सदैव आंगिक रूपमें लालसा, क्षुधा और ईहा ही रहेगा? ग्रीक जीवन-धर्ममें उल्लासकी अनुभूति तो आंगिक स्तरपर ही हुई। उसे तो वे अतिमामें साधारणीकृत नहीं करने गये। उनकी ऐन्द्रिक रस-साधना और उनके उत्सव इसके प्रमाण हैं। तब आंगिक उल्लास क्यों ईहा-मृग ही माना जाये? ठीक है! आंगिक स्तरपर भी उल्लास अनुभूत हो सकता है यदि उसका विरेचन कर दिया जाये। ग्रीकोंके पास आदिम रसबोध-की शक्ति थी। संस्कारोंका वह शिशु-युग था। पेगन कर्मकाण्ड और ट्रेजेडीके आधारपर वे भावात्मक विरेचन प्राप्त कर लेते थे। इसीसे ईहा-मृगको, जो आंगिक उल्लासमें निहित रहता है, उन्होंने पालतू बना लिया था। पर तब 'ग्रीसो-रोमन' सभ्यताका ध्वंस ईसाई-संस्कृतिके द्वारा हुआ, तो इस ध्वंसके साथ-साथ युरॅपकी विरेचन-शक्तिका नाश हो गया। ईसाई धर्म उल्लास एवं सौन्दर्यबोधका तिरस्कार प्रस्तुत करनेकी चेष्टा करता है। मध्ययुगीन चर्चका नारा था: 'सौन्दर्य पाप है'। उन्होंने सौन्दर्य और उल्लासका स्रोत हिन्दुओंकी तरह आत्माके अन्दर ही खोजनेकी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चेष्टा नहीं की। फलतः सौन्दर्यबोधके अन्दरका ईहा-मृग सदैव सजीव रहा, वह तिरस्कृत रहा अवश्य, पर इसीके कारण अधिक प्रतिक्रियाशील भी रहा। यहाँतक कि जब अरबी संस्कृतिके प्रभावसे रहस्योन्मुख 'प्रेमाभिचार' (कोर्टली लव) की परम्परा साहित्यमें उन्मुक्त होकर बहने लगी, उस समय भी ईसाई सौन्दर्यबोध ईहा-मुक्त नहीं हो सका। समस्त ईसाई-साहित्यमें सौन्दर्य मृगतृष्णा और ईहा—'सिडक्शन' और 'रेपिज़्म'—के रूपमें वर्त्तमान है। ईसाई सौन्दर्यबोधका महिमामय रूप है दान्तेकी 'बीट्रिस'। पर उसमें भी 'सिडक्शन' है, उल्लास नहीं। उल्लास तबतक नहीं मिलता जबतक पारस्परिक समर्पण न हो। वैष्णव रस-साधनामें यह पारस्परिकता विद्यमान है। आत्मासे उत्थित होनेके कारण इसमें 'पाप' का भाव विद्यमान नहीं। ग्रीकोंमें यह उल्लास आंगिक है, पर वहाँ पाप, ईहा, भय आदि विरेचन-द्वारा पालतू हो गये हैं। ईसाई कल्चरमें यह बात कहाँ? ईसाई कल्चरके तीन सर्वश्रेष्ठ दान हैं : डिवाईन कॉमेडी, हैमलेट और फ़ास्ट। तीनोंमें सौन्दर्यबोध ईहा और लालसाके रूपमें ही विद्यमान है। यह शान्त सरोवरमें कंकड़ मार भाव-वृत्तोंकी परिधिपर परिधि बनाता जाता है। यह आत्म-पीडनका सुख-मात्र है।

ईसाई कल्चरकी उपछायामें वर्ड्सवर्थ, ह्विटमन, थोरो, इमर्सनने इस उल्लास-धर्मको प्रकृतिके माध्यमसे ग्रहण करनेकी चेष्टा की और कुछ कालके लिए, 'प्रकृति पाप है'—का ईसाई संस्कार रुद्ध करनेमें समर्थ भी हुए। परन्तु उनका दार्शनिक आधार ग़ैर-ईसाई (आर्य) था। आधुनिक शताब्दीमें ईसाई संस्कारोंके विरुद्ध डी० एच्० लारेन्सने जेहाद छेड़ दिया। लारेन्सका दृष्टिकोण बॉयलॉजिकल था। वे जीवनको 'सहानुभूति-स्तरपर ले जाकर आदिम विशुद्धता लानेका उपदेश देते थे, विशुद्ध सहजानुभूतिपर आश्रित जीवन—'लाईफ ऑव प्योर इंस्टिंक्ट्स'—उस उल्लासको प्रदान कर सकता है जिसे हम आंगिक उल्लास कहते हैं, जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रीकोंको प्राप्त था। पर आज उस सहजानुभूति-निर्भर जीवनकी आशा करना आकाश-कुसुमका लोभ-मात्र है। ग्रीकोंकी आदिम अवस्थामें यह सम्भव था। पर आज दो हज़ार वर्षों-द्वारा निर्मित संस्कारोंकी तह, बौद्धिक रूमानोंका व्यूह जो प्रत्येक व्यक्तिके 'मैं' का अविभाज्य अंग बन चुका है, कैसे रुद्ध करके या शमित करके हम सहज जीवनकी ओर जा सकते हैं ? अफ़्रीका और ऑस्ट्रेलिया-जैसे महादेशोंमें, जहाँ अन्धकार एवं आदिमता अब भी विद्यमान हैं, भले ही सम्भव हो, पर युरॅप और एशिया तथा अमेरिकामें यह सम्भव नहीं।

इन आदिम बीजोंकी खोजका प्रयत्न अस्तित्ववादी कलाकार अलबर्ट कामू भी करता है। अस्तित्ववादी रसबोधकी एक दिशा है : स्पर्श-सुख; और इस सुखको अस्तित्ववादी चिन्तनमें 'सद्य'—स्पर्श-सुखके रूपमें जो किसी भी सांस्कारिक या बौद्धिक संशोधनसे मुक्त हो, मान्यता मिली है (कामू : 'समर इन अल्जियर्स')। कामूकी अनेक कहानियोंमें भी इस भावबोधको अभिव्यक्ति मिली है। उदाहरणके लिए उसकी एक कहानी है : 'व्यभिचारिणी', इसमें आंगिक ('यौन' नहीं) सुखबोधके तीव्र आकर्षणका वर्णन है। नायिका पतिकी शय्या छोड़कर रात्रिकी सुप्त नीरव वेलामें बाहर आ जाती है और शान्त मरुभूमि, शान्त नील आकाश, एवं सुषुप्त विराट्के भावबोधका आंगिक सम्मोहन उसे रात-भर बाहर रखता है। यह भी एक तरहकी इन्द्रिय-तृप्ति है। पर इसमें यौनतत्त्व नहीं। यहाँ उल्लासके आदिम ग्रीक रूपको हम कुछ अंशोंमें पाते हैं। पर पेरिसमें या न्यूयॉर्कमें दो हज़ार वर्षोंके ईसाई संस्कारोंका विरेचन सम्भव नहीं—अल्जीरियाकी उष्ण कटिबन्धीय चटकीले रंगोंवाली प्रकृतिकी और बात है। सभ्यता—आक्रान्त जगत्के लिए तो उल्लास-बोधका एकमात्र मार्ग है—सौन्दर्यके प्रति तथा प्रकृतिके प्रति भावात्मक समर्पण और सगुण रस-बोध जो वैष्णवोंमें कभी विद्यमान था। अरविन्द-दर्शन सम्भवतः इस रसबोधको जगानेमें सक्षम हो सकता है।

 प्रिया नीलकण्ठी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मेरे मनमें मौरसे लदे हुए उल्लास-मत्त आम्र-वृक्ष, उनपर भनभनाते हुए झुण्डके झुण्ड मधुवा, उनके अन्तरालमें छिपी कूकती कोयल और नीचे उसके स्वरके अनुकरणपर चिढ़ाते हुए उत्पाती बच्चे, ये चारों मिलकर एक समग्र चित्र पूरा करते हैं। इस चित्रसे प्रथम भेंट गाँवके पूरबवाले बाग़में हुई। उस समय मैं चित्रका स्वतः एक अंग था, इससे कुछ जान नहीं पड़ा। पर दूर हट जानेसे चित्र खूब साफ़ दृष्टिगत हो रहा है। यह बाग़ आम्र-फलों-द्वारा काषाय, अम्ल और अन्तमें मधुरका दान हमारे गाँवको प्रतिवर्ष करता है। यह गाँवका समवयस्क भी है। कटु-तिक्त भी अनुपात-के अनुसार देता ही है। गाँवके अखाड़े-दंगल, पंचायत-चुनावसे लेकर जेठकी दुपहरीमें और झन-झन नीरव चाँदनी रातमें द्यूत-क्रीड़ाका पावन स्थल भी यही है। रह गया नमकीन। वह भी सालमें एकाध बार। ग्राम-की देहरीमें वर्जित लावण्य-रस-संयोग भी सालमें कमसे कम दो बार यहाँ घटित हो ही जाता है। भाई, इस पुनीत धरामें अभिसारिकाओंकी फ़सल कभी भी न्यून नहीं हुई। इस प्रकार यह आम्र-कानन षट्रसोंका दाता है। नवरस इसकी हवामें तैरते रहते हैं।

पर इतना ही नहीं, इसका महत्त्व और भी है। यह हमारे गाँवका अरावली पहाड़ है। जब मालगुज़ारीका सिपाही गाँवसे एक फ़र्लांग दूर रहता है तभी उसकी सद्गन्ध पाकर ग्रामके वृद्ध गृहपतियोंके सोटेका रुख अनायास ही इस बाग़की ओर हो जाता है। यह एक विचित्र स्वयंचालित प्रक्रिया है। ऐसा लगता है कि प्रेमचन्द 'प्रेमाश्रम' युगमें किसानोंको ठीक-से समझे नहीं थे। प्रारम्भिक कालमें उनका किसान कभी-कभी रोष व्यक्त कर बैठता है। पर तथ्य तो यह है कि भारतीय किसानके पास 'रोष' नामकी वस्तु है ही नहीं। वह तो सनातन 'होरी' है, जो सारी कटुताओंको सदैव निरीह रूपमें स्वीकार करता जाता है और अन्तमें बिना कफ़नके मर जाता है। फिर 'प्रेमाश्रम' युगमें तो 'पुलिस' शब्दसे टाँगें काँपने लगती थीं। उस समय लाल पगड़ीकी महिमा आजके नवयुवककी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कल्पनासे परे रही होगी। आज तो 'पुलिस'का अर्थ भी हमारे गाँवमें बदल गया है। गत वर्ष एक लँगोटिया यारने सुझाव दिया—बड़ी सर्दी पड़ रही है। 'पुलिस' खाया जाये। पहले तो समझमें ही नहीं आया कि पुलिस-मजिस्ट्रेट वकील कैसे खाया जा सकता है। पर बादमें मित्रने मेरी मोटी बुद्धिकी थोड़ी-सी प्रशंसा करके अर्थका उद्घाटन किया, 'पुलिस' माने 'अरुण-शिखा', मुर्गी। मैंने कहा, धन्य हो सरस्वती! भटककर कैसी-कैसी जिह्वाओंपर बैठ जाती हो। फिर दत्तात्रेयकी भाँति नये गुरुको प्रणाम किया।

यदि दक्षिण-पश्चिमके कोनेपर स्थित पुराने शतायु पीपलका ज़िक्र न करूँ तो चित्र अधूरा रह जायेगा। इससे केवल पचीस लट्ठे दूर संवत्-भूमि है। यहाँ प्रतिवर्ष फाल्गुनकी अन्तिम रात्रिको तीस अवयव बारह अंश चौबीस पर्व और तीन सौ साठ अरोंवाले निरन्तर घूर्णित संवत्सर-रूपी कालचक्रको दग्ध किया जाता है और उसकी राखसे नवीन संवत्सर पुरुषका जन्म यहींपर होता है। इसके अतिरिक्त इस पुरातन पीपलका उपयोग ग्रामवासी मृतात्माओंके लिए शुद्धक-कालमें 'घण्ट' (घट) बाँधनेके लिए करते हैं। इस अश्वत्थकी शाखाओंपर एक सौ वर्षोंसे प्रत्येक मृतात्माको, जो इस ग्रामसे सम्बन्धित है, दस दिन तक रहना पड़ता है और उक्त घटका जलपान करके वह शोकके विषसे मुक्ति पाती है और बादमें कर्मानुसार देवयान, पितृयान या अधोयानके मार्गपर चली जाती है। दिनके दोपहरको भी इसमें लटकते 'घटों', चीथड़ों और सूत्रोंके कारण यह वृक्ष नहीं बल्कि कोई सजीव सचेतन पुरुष-सा लगता है। बचपनमें तो अकेले इस ओर आनेमें भय लगता था। अब भय नहीं लगता, पर मन बदल जाता है। सारी जंगमता इसका आवरण-भर है। इस मुखौटेके नीचे यह निर्विकार संन्यासीकी तरह शत वर्षोंसे ग्रामकी व्यथा-वेदनाका भाग ग्रहण करता हुआ खड़ा है। पर विचित्र बात है कि हुतात्माओंकी घुटन-निराशा एवं मृत्युकी शीतलता इस नीलकण्ठ वृक्ष-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुरुषको स्पर्श भी नहीं कर सकी है। प्रतिवर्ष लाल टूसे, कल्ले और टह-नियाँ फूटती हैं। जीवन वहाँ भी पराजित नहीं दीखता जहाँ मृत्युका अश्वमेध-यूप-स्तम्भ गड़ा है। उल्लास यहाँ भी मरा नहीं। ऐसा लगता है कि प्रकृतिके क्रोड़में उल्लास कभी भी पराजित नहीं होता है। यह उल्लासकी दीनता केवल मनुष्यके ही भाग्यमें लिखी गयी है, अन्य जीवों-को यह सहज लभ्य है।

फागुन-गान प्रत्येक भाषामें मिलता है। पर हिन्दीकी यह जातीय विशेषता उसी प्रकार है जैसे बाउलसुर बंगालकी। बंगालका मन बड़ा ही करुण, कोमल और भावुक है। वहाँकी धरती जलकी अधिकतासे पान करती है। अनावश्यक हरियाली निरीह पर देखनेमें भयंकर जल-सर्प एक ओर, तथा सम्मोहनके व्यूह कदली-वन जहाँ असली विषधरोंसे भेंट हो जाती है और महिमामय दार्शनिक एवं मांगलिक नारिकेल-कुंज दूसरी ओर। कलकत्तेमें ट्रामके खम्भेपर एक ओर गुरुदेवका चित्र और नीचे 'कवि, लह, नमस्कार' और दूसरी ओर ललकार-भरी कम्युनिस्ट पार्टी-की 'शोभा-यात्रा'का प्रोग्राम। बंगाली रणभूमिमें भी उतरनेपर अपनी सौन्दर्य-दृष्टि नहीं भूलता और 'शौर्य-यात्रा' न कहकर 'शोभा-यात्रा' ही कहता है। यह गौड़ी वृत्तिका देश है। यहाँकी राजनीति भी बिना पल्लव-तोरणके नहीं चलती, भले ही षष्ठी-पूजाके पाँचवें दिन दशमीको प्रतिमा-विसर्जन ही क्यों न करना पड़े। बंगालके लिए मेरे मनमें बड़ा मोह है। पर दूसरी ओर तुलसी-कबीरकी धरती है। 'मुक्ति जन्म महि जानि ज्ञान-खानि अघहानि कर।' इसके स्वरोंमें विचित्र उन्मेष है। बिरहा-लोरकी या होली-गान हो अथवा 'आल्हा' हो, सबमें दर्प-भरी ललकार है। विषय भले ही श्रृंगार-करुणा-शान्त हो, पर व्यंजना सदैव वीर रसका अनु-करण करती है।

इस अवसरपर रघुराज चौबेकी याद आ जाती है। वे हमारे गाँवके होली गानके 'सेनापति', जुझाऊ रामायणी तथा हनुमान्‌जीके परम भक्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

थे। सवेरे लँगोटा बाँधकर पचहत्तर वर्षकी उम्र तक अखाड़ोंमें हनुमान्जी-की आराधना करते थे और शामको घीकी वाती जलाकर 'हनुमान्लला' की आरती गाते-गाते नाचने लगते, फिर भावविभोर होकर वेहोश हो जाते। सवेरे भीम और सन्ध्याको चैतन्य-देव। ये उनके दो रूप थे, मरने-से कुछ वर्ष पूर्व सारंगी-वादनका शौक़ जागा। जब आजसे पन्द्रह वर्ष पूर्व पहले-पहल सारंगी खरीदकर लाये थे, तो परिचितोंको पकड़-पकड़-कर सुनाते थे। उनके सीधेपनके ही कारण लोगोंने उन्हें मज़ाक़का पात्र बना दिया था। उसी समयकी बात है, एक दोपहरको एक मित्रके साथ टहल रहा था। उधरसे चौबे सिरपर बड़ा भारी हरी मटरका बोझ लिये आ रहे थे। दुष्ट-बुद्धि मित्रने उन्हें बनानेके खयालसे चौबेसे 'एक तान' सुनानेका आग्रह किया। चौबेके सिरपर बोझ था, फिर भी प्रसन्नता-भरे स्वरमें पीछे-पीछे आनेका आदेश दिया। घरमें बोझा पटक बाहर आये और बोझेकी पगड़ी उतारकर चट सारंगी उठा ली और मुँह बाकर छोड़ दिया—'ऐसो फागुन! श्यामसे बिछुड़ जा''''ना, ऐसो फागुन!' विचित्र दृश्य था। दोपहरका समय, तर-तर पसीना चू रहा है। बोझा ढोनेकी गरमीसे मुखमण्डलपर स्वेद-बिन्दु झलमला रहे हैं, पर चौबे साँस खींचकर गाये जा रहे हैं। मेरा मित्र मुँह फेरकर हँस रहा था। मुझे भी हँसी छूट ही गयी। पर चौबेकी आँखें बन्द थीं। मैं पड़ोसी था। मेरा घर चौबेके घरसे सटा हुआ था। अतः मैं जानता था कि डेढ़-दो माससे चौबेके घर वही हरी मटरकी 'मरद' और 'बरद' दोनोंका आसरा थी। यह जानते हुए भी तब मैं हँस पड़ा था पर आज नहीं हँस सकता।

हमारे गाँवमें होली-गानका समारम्भ प्रतिवर्ष चौबेके मजीरेकी झनकारसे ही होता था। जबतक ज़िन्दा थे अपने इस स्वत्वको पूरे जोश-के साथ सँभाले रहे। झगड़ेके डरसे लोग बिना उनके आये श्रीगणेश नहीं करते थे। चौबे आते और मजीरेकी झनकारके साथ उनके गले-रूपी बाँससे मोटा सप्तम स्वर उठता और 'इतते निकसी नवल राधिका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उतते हरि-हलधरकी जोड़ो' तक पहुँचते-पहुँचते सप्तककी सीमासे पारका विचित्र स्वर निकलता था, जिसमें सार्थक शब्दोंके लिए जगह नहीं थी, फिर भी चारों ओरसे 'वाह, वाहकी झड़ी लग जाती थी, यह वाह-वाही गानके सुन्दर नहीं शौर्यपूर्ण प्रदर्शनके लिए दी जाती थी। जैसे गायक थे वैसे ही श्रोता। फिर दूसरा गान उठता—'सखी, तोहें चाहत नन्द-कुमार। हो ललना···एतना तू करेलू सिंगार।' 'कु···मार', 'सिं···गार' 'सँ····वार'-जैसे तुकोंपर ठहरकर रँभाते हुए चौबेकी ध्वनि नेतृत्व करती और दूसरे उसी श्रेणीके गायक-योद्धा उनका अनुसरण करते चलते थे। गीतके उत्तरार्द्धमें चौबे पद्मासन बदलकर घुटनेपर बैठ जाते थे और छाती उत्तान हो जाती थी। उनका शरीर उठने लगता और उठते-उठते वे घुटनेपर खड़े हो जाते थे। वक्षःस्थलपर मजीरे बजाते हुए हाथ, ऊर्ध्वमुख, सफ़ेद घनी मूँछें, उल्लासमय बदन—इसी वीर-मुद्रामें गान समाप्त होता था। हमारे गाँवमें चौबेके मरनेपर आज भी श्रृंगार और करुणके व्यंजक गीतोंका वीर-रसकी व्यंजनामें ही उद्धार होता है। गीत-के अन्तमें 'वाह रे चौबेजी, वाह रे चौबेजी' की ध्वनियाँ गूँज उठतीं और चौबे फूले न समाते।

चौबे उल्लास-साधनासे मरनेके एक वर्ष पूर्वसे ही लाचार होकर विरत हो गये। नेत्र-रत्न चले गये। अन्तिम बार जब मैं उनसे मिलने गया तो चौबे कालके बाणोंसे विद्ध शर-शय्यापर उत्तरायणकी प्रतीक्षामें रत थे। कोई पास फटकता नहीं था। सिर्फ़ हड्डियाँ रह गयी थीं। एक आठ-दस वर्षकी नातिन थी, वही उनके पास न जाने किस संस्कारसे आकर बैठती थी। चौबे अत्यन्त करुणापूर्वक कहते, 'बिट्टू, ओ हमार पवन-सुत, तनिक इधर आ, बिटिया।' बिट्टूके बूढ़े बाबाके प्रति बाल-स्नेहमें चौबेको अपने इष्ट देव हनुमान्जीका दर्शन होता था। जीवनकी सन्ध्यामें वही एक आशा रह गयी थी, शेष आशाओं-आकांक्षाओंका सेतु कबका टूट चुका था। इसीसे स्नेहमूर्ति उस बालिकाको कभी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'रामचन्द्र' कभी 'पवनसुत' कहा करते थे। 'बच्चा, इसी बालिकामें रामचन्द्र प्रवेश कर गये हैं, नहीं तो निराधार अवस्थामें कौन पूछे ?' बिट्टू चिढ़कर कहती, 'तब बाबा, बन्दर मुझे क्यों बनाते हो कभी-कभी ?' चौबे हँसकर कहते, 'अरी पगली !' एक मास बाद पिताजीके पत्रसे ज्ञात हुआ कि चौबेका प्राण-पंछी उड़कर अपने रामचन्द्रके चरणोंमें पहुँच गया। फिर भी चौबेका उल्लास एक ऐसे स्रोतसे आता है जो कभी भी नहीं सूख सकता, और यह उल्लास आज भी जीवित है। अब भी इस धरतीको उल्लास-रससे सींचनेवाले असंख्य चौबे जीवित हैं।

पल्ली जीवनकी उल्लास-साधना सर्वत्र सूख रही है। परन्तु रवीन्द्रनाथने पल्ली-संस्कृतिकी रस-सरिताको, कमसे कम बंगालमें, छिछली होनेसे बचा लिया। स्वयं वे अभिजात बुद्धिवादकी सन्तान थे। पर उन्होंने पल्ली—संस्कृतिके रस-संस्कारोंके आधारपर ही अपना कृतित्व स्थित किया। फलतः उस संस्कृतिकी गीतात्मकता एवं जीवनालयको भी नवीन दिशा मिली। रवीन्द्रनाथके उत्तरार्द्धके गीत एवं गीतनाट्य दोनों अब पल्ली लोक-जीवनमें प्रवेश पा रहे हैं। ये गीत बंगालके 'बाउल' स्वरों या पदावली-स्वरोंपर चलते हैं और बंगला भाषाकी सहजताको अपनेमें अन्तर्भुक्त किये हैं। उनके गीतनाट्य या लघुनाट्य भी 'यात्रा' नाटकोंपर आश्रित हैं। सारी 'पेजेण्ट्री'—रूप-विन्यास और रूपायन (फ़ॉर्म) तथा अभिव्यक्ति 'यात्रा'—अभिनयके अनुकूल है। श्रीनिकेतन-द्वारा उन्होंने बंगालके मरते हुए शिल्पोंकी भी रक्षाका प्रयास किया है।

यह सही है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि औद्योगिक विकासके साथ-साथ बौद्धिकताका दायरा बढ़ता जायेगा और रसबोधका क्षेत्र घटता जायेगा। बौद्धिकता ही युग-धर्म बनेगी। यह तो ध्रुव है। परन्तु जीवनका दूसरा समानान्तर प्रवाह, जो बीसवीं शतीसे पूर्व नगर-संस्कृतिका पूरक था और आज विचित्र तथा उपेक्षित हो रहा है, इतना हेय और तुच्छ नहीं कि इसे सूखने दिया जाये। निरालाने एक गीतमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रार्थना की है : 'हे सरस्वती, तुम टूटे तनपर, जर्जर मनपर उतरो। तुम सन्ध्या, उषा, आकाशपर उतरो। तुम पेड़-पौधोंपर उतरो। पर साथ ही तुम उसपर भी उतरो जो गाय चरा रहा है, जो बछड़ेको नहला रहा है।' रस-सरस्वती यदि मुक्त-भावसे सबको नहीं बाँटी जाती है तो व्यक्तिकी साधना धरी रह जायेगी, और एक ओर शहरी 'कल्चर' अपना असली प्राण-स्रोत खोकर विकृत होगा दूसरी ओर पल्लीकी प्राचीन रसधारा एवं सनातन उल्लासके सूखनेपर एक 'वैकुअम'—खाली स्थान—पैदा हो जायेगा। इस 'रिक्तता' की पूर्ति करनेके लिए कोई रवीन्द्रनाथ-जैसा अभिजात ऋषि नहीं मिला तो शहरी कल्चरकी विकृतियाँ उस खाली स्थानको भरती कर देंगी। तब 'आवारा' बुश्शर्ट-जैसी गड्ड-मड्ड बेतरतीबवार 'प्रति-संस्कृति' उस बुद्धिवादको भी मुँह चिढ़ायेगी, जो हमें आज इतना प्रिय है।

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सनातन नीम

हवाएँ और हवाएँ। संवत्सरकी हवाओंके समस्त अभियानोंकी उष्मा, आर्द्रता : ताप-शीतका मापक भाव-यन्त्र यह नीमका वृक्ष मेरे दरवाज़ेके विस्तृत सहनमें बरसोंसे खड़ा है। बग़लमें ही इसके स्वर्गीय पूर्व वृक्षपुरुष-का पादपीठ था। उसकी अनेक भूफोड़ स्वयम्भू सन्ततियोंमें, स्वयम्भू इस अर्थमें कि स्थावरोंकी सृष्टिमें बिना किसी देह-यज्ञके पिताका सत्य स्वयं प्रकाशित हो उठता है, बाबाने इसीको दयापूर्वक छोड़ दिया और शेष वंशपरम्पराको काल-पुरुषका निमित्त-मात्र बनकर जन्म-मरण-चक्रके पथपर अति निर्लिप्त भावसे आगे ढकेल दिया। तबसे बिना रोष-प्रदर्शनके शान्त भावसे यह क्षिति-जल-ताप-समीर और आकाशका भक्षण करता हुआ जीवन ढो रहा है। दसों दिशाओंकी ओर यह अपना संवेदन यन्त्र रात-दिन फैलाये रहता है। ऋतु-प्रियाके मुग्धा, खण्डिता, अभिसारिका मान एवं रोषके हलकेसे हलके भाव-परिवर्तनको भी अपने सहस्र-फण पत्र-जालकी नोकोंपर यह सदैव ग्रहण करता रहता है। अंग-अंगमें संवे-दनोंका व्यूह धारण किये हुए है, तो भी इसका अन्तर रागमुक्त है। यह कभी नहीं सोचता : 'प्रभुकी सृष्टिके इस अनन्त विस्तारको पाकर भी ये मनुके बेटे सन्तोष नहीं पाते। ये सदैव दूसरोंका संहार किया करते हैं। आज छविकी उपासनाका स्वांग करके यदि ये स्नेह और दुलार भी देते हैं तो कल काट करके हमारे कंकालको बड़े गर्वसे अपने महलों या कुटियों-के ढाँचेमें जोड़े देते हैं। इनका प्यार भी मांस-भक्षी होता है। देखो न,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मेरे भाइयोंने इस आदमीका क्या बिगाड़ा था।' सम्भवतः यह ग्लानि, यह व्यथा इसके अन्तरको पीड़ित नहीं करती। बिना किसी भेदभावके सेवा और स्नेहका मुक्त वितरण कर रहा है। इसकी तटस्थता इतनी घोर एवं आत्मनिष्ठ है कि हमें पता नहीं चलता कि हमारे साथ निरन्तर एक प्राणी हमारे दरवाज़ेपर विद्यमान है। केवल चैतके महीनेमें, जब पत्तियाँ खड़-खड़ करके झरने लगती हैं और सूखी पत्तियोंके पथारपर बच्चे लोटने लगते हैं तो इसकी उपस्थितिका अनुभव होता है। फिर तो यह ऋतु-परिवर्तनका दर्पण बन जाता है। लाल टूसे निकलते हैं। नरम अंगूरी रँगकी पत्तियाँ कुछ समयके बाद पककर चटकीला हरा रंग पकड़ लेती हैं। उनके लरछे हवामें झूलने लगते हैं। फिर सफ़ेद फूलोंके गुच्छ आ जाते हैं, जिनमें रूपसे अधिक प्रबल गन्ध होती है। हवा मत्त हो उठती है। दिनकी गरमीसे व्यथित हम इसके नीचे रातको खाट बिछाकर सोते हैं। रातके एकान्त क्षणोंमें इसपर श्रृंगार उतर आता है। दो बाँहोंके बीच चाँद झूलता है। ज्योत्स्नाकी धवल धारामें हरी नयी पत्तियोंको पखारकर पवन हलका-हलका स्पर्श देता है। रातको नींद उचट जानेपर मज़ा आ जाता है।

यों गाँवमें नीमके पेड़ बहुत हैं। सबसे विशालकाय है चण्डी-थानपरका नीम। गान्धीवादका प्रभाव भारतके देवताओंपर भी पड़ा है। अब बीच-पचीस वर्षोंसे यहाँके चण्डी-थानपर सूअर नहीं काटे जाते, मुर्गों और कबूतरोंकी बलि नहीं होती, पुष्ट अजा-पुत्रोंको देवीके उन पादपद्मोंमें, जिनका चुम्बन बाणासुर एवं दशाननके प्रतापी ललाटोंने किया था, वीरगति नहीं मिलती। 'पतिवाह' चरित्तर मिसिरने आजसे पचीस वर्ष पूर्व जलते दूधका घड़ा शरीरपर उँड़ेल करके घोषणा की थी : 'बालको, देवी बलि नहीं माँगती। सुनो रे बालको, देवी बलि पाकर क्रुद्ध हैं। आजसे बलि बन्द।' पर कराल चण्डिकाके धर्म-परिवर्तनके बावजूद उस स्थानपर वह सौम्यता नहीं आयी जो अन्य देवस्थानोंमें अपने-आप अन्तराल-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में प्रवेश करती मालूम होती है। सम्भवतः शताब्दियोंकी हत्या प्रेत बनकर वहाँ मँडराती है। सारे वातावरणपर जैसे शापकी छाया पड़ी हो। इसीसे वहाँ विशालकाय नीमपर कबूतरों और सारिकाओंके नीड़ नहीं। एक भी कबूतर मारे तिरस्कारके उसपर बसेरा नहीं लेता। सन्ध्याके धूमिल प्रकाशमें भुवन-विजयिनी कराली देवीकी रक्तपताका उसके विश्वधात्रीपनकी विडम्बनाको ऊँची करके फहराती है, पर उनका वृक्ष पार्षद प्रकृतिके विशाल कुलमें जाति-च्युत-सा ग्लानि और संन्यासका शाप भोग रहा है। परन्तु मेरे नीमपर तो सन्ध्या होते ही गगनचरोंकी भीड़ लग जाती है। डाल-डालपर सभाएँ जुड़ जाती हैं। यों भारतमें पक्षी सदैव महान् बुद्धिजीवी भूमिका निभाते आ रहे हैं। जानश्रुति पौरायणके राज्यमें विचरनेवाले दार्शनिक हंस, त्रेताकी छायावादी प्रतिभा सम्पाती एवं क्लासिकल काव्य-मर्मज्ञ काकभुशुण्डि तथा द्वापरके अनेक पक्षी-पण्डित इस विशाल बौद्धिक परम्पराके मणि-प्रवाल हैं। मैं रोज़ इनके शास्त्रार्थको ध्यानसे सुनता हूँ। पर समझ न पानेके कारण सोचता हूँ, छोड़ो, ये बेचारे पक्षी हैं! ये सब भी सोचते हैं; छोड़ो, यह बेचारा मनुष्य है, लेटा रहने दो अपने पेड़के नीचे, डाल तो दखल कर नहीं रहा है! इस तरह परस्पर उपेक्षा भावसे सहअस्तित्व चल जाता है। धीरे-धीरे द्विजकुल मौन धारण कर बसेरा ले लेता है।

नभचारी-सभाके समाप्त होते ही रात्रिकी धूम-लेखा आकाशके मस्तकसे उतरकर धरतीपर आ जाती है। धीरे-धीरे नीमकी टहनियों, पत्तियों और फुनगियोंपर साहित्य छाने लगता है। प्रहर रात जाते-जाते पत्तियोंपर कविता उग आती है। लहराती टहनियोंपर भावोंकी नौकाएँ अपना पाल तान देती हैं। सुप्त नीड़ोंमें उपन्यास लिखा जाने लगता है। रसकी यह रचना सनातन है। रात-भर यह प्रक्रिया चलती है। उजेली चाँदनी रातमें ही इसका बोध हमें प्राप्त होता है, पर रसकी स्थिति प्रकृति की आत्मामें एक सनातन प्रक्रिया है। कृष्ण पक्ष इच्छाओंके अन्धकारके सदृश है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जब यह अन्धकार कट जाता है तो हम अन्तरमें रसबोध पाते हैं। इच्छा-मुक्ति, रज तथा तमका लोप एवं सत्त्वोद्रेक ही आन्तरिक 'कैथार्सिस' है जिसे अरस्तूने रसास्वादनके लिए आवश्यक बताया है। भाव मरता नहीं। भाव तो वही रहता है, पर उसका बोध बदल जाता है। तमके परिवेशमें भाव जागृत एवं सक्रिय रहता है, इसीसे उससे एक बेचैनी और आत्म-पीड़न मिलता है। पर 'कैथार्सिस' के बाद तम-हीन सन्दर्भमें वह निष्क्रिय बन जाता है। इससे सुख मिलता है, पर हलचल नहीं होती। इन क्षणों-की इस निष्क्रिय भावावस्थाको ही सत्त्वोद्रेक कहा जाता है। कला इसी निष्क्रिय भावावस्थाकी संयोजक है। इसी मनोदशामें नग्नमूर्तियोंके रूपा-यन (फ़ॉर्म) एवं शरीरकी 'लय' (रिद्म) को देखकर हम रसका आस्वादन करते हैं, पर मानसिक बेचैनी नहीं अनुभूत करते, जो वास्त-विक नग्नताको देखकर अनुभूत होती। जीवन और वास्तविकता तम और रजसे परिवेष्टित हैं। कला इसका त्याग करती है। शुभ्र ज्योत्स्ना इसी 'कैथार्सिस'की निसर्गगत अभिव्यक्ति है, जो प्रकृतिके अन्तरमें रसकी स्थिति-को स्पष्ट करती है। भावोंका तामसिक बोध इससे छिन्न-भिन्न हो जाता है। इस 'कैथार्सिस'को नैसर्गिक रात्रिके शान्त आलोकमें मूर्खकी तरह बचपनमें देखता रहा और समझ नहीं पाया। आज समझ पाता हूँ, तो अवकाश नहीं कि एक बार मन-भर इसे निहारूँ। अन्तरालके सहस्रों चेतना-व्यूहों और स्नायु ग्रन्थियोंमें चिन्ताओंके सर्प पल रहे हैं। उनके दंशसे सदैव····।

पर इस नीमकी छायामें घटित होनेवाली कुछ दुःखद स्मृतियाँ भी हैं। इसीके नीचे प्रायमरीके शिक्षक स्वर्गीय यदुनाथ सिंहके क्रूर शासनमें प्रति सन्ध्याको दो घण्टे दीपकके आलोकमें 'चक्रवर्ती' अंकगणितकी साधना भी करनी पड़ी है। एक तो गणित-जैसा विषय; दूसरे गुरुदेव भी मिले राज-पूत। कहा भी करते थे : 'रजपूत भगत, न मूसल धनुहीं।' राजपूत भक्त नहीं हो सकता और मूसलका धनुष नहीं बन सकता। पर 'नमो नारायणाय'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उनकी ज़बानपर दो वाक्योंके बाद अवश्य आता था। प्रायमरी स्कूलोंमें वर्ण-व्यवस्थाका अब भी समादर है : ब्राह्मण शिक्षकको 'पण्डितजी', भूमिहार-राजपूतको 'बाबू साहब', शेष हिन्दुओंको 'मुन्शीजी' तथा मुसलमानोंको 'मौलवी साहब'। गाँजा पीकर बाबूसाहबकी आँखें अकसर लाल-धुत्त रहती थीं। जिस दिन गाँजा नहीं मिलता उस दिन उनकी वृद्ध भुजाओंमें जवानीका बल आ जाता और छड़ी न मिलनेपर अस्त्र-शस्त्रके अभावमें ईंटोंसे ही कूटना प्रारम्भ करते थे, यद्यपि इसका पुनीत सौभाग्य मुझे नहीं हुआ क्योंकि 'चक्रवर्ती' मैं माँज गया था। ब्राह्मण, भूमिहार, राजपूत और कायस्थ—चार जातियोंके लड़कोंको छोड़कर शेषके साथ एकलव्यसे भी बदतर व्यवहार करते थे। अहीरोंको 'सिंह यादव' लिखनेके सरकारी आदेशकी ओर उन्होंने कभी ध्यान नहीं दिया। सदैव 'राम' लिखते रहे। ऐसा करना वे समस्त राजपूत जातिका अखिल भारतीय अपमान मानते थे। बाबासे कहा करते थे : 'लड़केकी जड़ इतनी पुख्ता कर रहा हूँ कि सदैव फ़र्स्ट पास न हुआ तो गधेके पेशाबसे मूँछें मुड़ा दूँगा, बाबू साहब !' बाबा इसीपर खुश होकर दूध-दहीकी हाँड़ी भिजवा देते थे; जिसे मैं सम्पूर्ण गौरवके साथ ढोकर ले जाता था। उस दिन मेरा बड़ा आदर करते थे। उनका सर्वोत्तम आदर यही था कि 'वधिक' की 'पोस्ट' पर दिन-भरके लिए मैं नियुक्त हो जाता। कामके, सूदके या चक्रवृद्धि ब्याजके प्रश्नोंपर दण्डकी व्यवस्था उनके श्रीमुखसे होती थी और उसे कार्य-रूप मैं प्रदान करता था। उस दिन अन्य सहपाठी बड़े आदर, श्रद्धा और आतंककी दृष्टिसे मुझे देखते थे। मेरे गर्वका तो कहना ही क्या !

बाबू साहबकी प्रतिभा बड़ी विलक्षण थी। पढ़ाते बड़ी मेहनतसे थे। 'भूषण' के बलपर तहसीली-भरके मास्टरोंमें अपने साहित्यिक ज्ञानके लिए बाँह पुजवाते थे। 'तीन बेर खाती हैं, सो तीन बेर खाती हैं' वाला छन्द मुझे इन्हींसे सुनकर दरजा तीनमें ही याद हो गया। 'मिथ' की रचना करनेमें बड़े पटु थे। प्रत्येक जातिपर गंग या पद्माकरके नामपर एक सवैया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

या छन्द उन्हें याद था। चायको 'लक्ष्मण-बूटी' कहते थे। उनके अनुसार संजीवनी बूटीका रस निचोड़कर हनुमान्‌जीने उसे उत्तर दिशामें फेंक दिया। वही चायका पौधा बनकर अंकुरित हुई। हुक़्क़ेको 'अग्निहोत्र' कहते थे। शिष्योंको इस पारिभाषिक शब्दावलीका ज्ञान था। एक 'लँगड़ी भिन्न' बोलकर यदि किसीको अग्निहोत्र-स्थापनाका आदेश मिले, तो वह मान लेता था कि उस घण्टेके लिए उसे अभय-दान मिल रहा है। जब कभी 'फ़ासिज़्म' पर कोई पुस्तक पढ़ता हूँ तो उनकी समुच्छ साकार प्रतिमा स्मृतिमें उभर आती है।

हवाएँ और हवाएँ। पूर्वा हवासे अंग-अंग दुखता है। कच्चा घाव और पकता है, और हरा हो जाता है; जल्दी सूखता नहीं। पूर्वा बादलों-को लाती है। घटा घिरती है। पानी बरसता है। मिट्टी मुलायम होती है। दबा हुआ बीज, जिसे मैं सोचता था सड़ गया होगा, अचानक अव-चेतनकी परतोंको फोड़कर सगर्व शक्तिमान् निकल आता है। वह पूर्वा हवाका दुलार पाकर बच्चे-सा मचलता है। भौंहोंके शरासन तन जाते हैं। रसाल-पल्लवोंमें छिपा अदृश्य देवता हँस पड़ता है। पर यह दर्दकी हरी-तिमा तबतक व्यर्थ रहती है जबतक वह प्राणोंको रोष और व्यथाकी अग्निमें तपाकर पुष्ट न कर ले। पछुआ हवा इसी रोष, इसी तापको लाती है। गेहूँ-जौकी बालियाँ पकती हैं। पछुआ झझकारकर बहती है। रसको पकहर और मीठा कर देती है। खेतोंका रूमानीपन पककर 'क्लासिकल' फ़सल बन जाता है। शकुन्तला और दुष्यन्त फिर मिलते हैं। भग्न-मनोरथा सतीको पछुआ हवाका ताप पाकर अपने रूपकी निन्दा करनेकी और आवश्यकता नहीं रह जाती।

फागुनकी नयी-नयी फागुनी हवा और उसके बाद चैतके बरसते फूल। नवीनका यह उच्छृंखल उल्लास शीशम और नीमपर मन्द-मन्द, पर सेमल-पलासपर पूरे रोषके साथ, फूटता है। अंग-अंगमें नये ख़ूनका दौरा होता है। फिर बैशाख-जेठकी तीव्र लू। प्रखर ज्वलन्त बवण्डर उठते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

फिरकी-से नाचते हुए एक ओरसे दूसरी ओर झकझोरते चले जाते हैं। हवाका रंग सुबह छह बजे ठण्डा-सुनहला रहता है। दस बजे वह पीली पड़ने लगती है, बारह बजे आगकी लपट बन जाती है। एक बजे हवाकी लपट एकदम सफ़ेद-तप्त हो जाती है और भयंकर शापकी तरह नग्न खेतों-पर दौड़ती चली जाती है। फिर सन्ध्याको बैंगनी, फिर नीले रंगकी शीतल हवा बयार बनकर बहने लगती है। ग्रीष्ममें इतने रंगोंकी हवा। इतने रंग तो वसन्तके भी पास नहीं।

हवाओंके इन सारे कुतूहलों, सारे उल्लासोंका कुरुक्षेत्र है यह नीम-का पेड़ और माध्यम है मेरा दर्पण-सा स्वच्छ हृदय। मैं दर्पणको रँगता रहता हूँ। नीमकी डाल रंगोंके मेलको देखकर हामी भरती है। और दर्पण उन हवाओंको अपने अन्तरमें उतारकर पढ़ता रहता है। कोई कहती है : 'भूल गये क्या? वृन्दावनमें भेंट हुई थी! मैं राधा हूँ!'— कोई कहती है : 'हमने और तुमने उत्तरायणके मस्तकपर ऊर्ध्वपुण्ड्रकी तरह स्थित बदरीवनमें एक गीत रचा था। वह गीत तो तुम्हें याद ही होगा!' कोई कहती है : 'मैंने तुम्हें जो जौके पाँच दाने अपने आमकी लताओंके खेतमें बोनेको दिये थे, उनके विशालकाय वृक्षोंसे जौकी बालियाँ ख़ूब लटकी होंगी।' कोई प्रेताविष्ट हबुआती हुई कहती है : 'पहचाना नहीं? कल सुअरके दो छौने काटकर ताज़ा ख़ून रखे रहना। आऊँगी।' कोई कहती है : 'भैया तू तो बड़ा दुबला हो गया है!'

मैं हवाओंको दर्पणपर उतारता जाता हूँ। उनका सन्देश पढ़ता जाता हूँ। यह नीमका पेड़ हामी भरता जाता है। गोया समस्त जीवन एक 'सियान्स'—एक शव-साधना हो। ये हवाएँ भटकते हुए प्रेत हैं। नीमका पेड़ माध्यम है। मेरा दर्पण प्रश्न कर रहा है। हम इसके चारों ओर एक-दूसरेका हाथ पकड़े बैठे हैं। अर्थात् मैं, तुम (यानी 'मैं') और वह (वह भी 'मैं') और वह (वह भी 'मैं' ही), इस तरह बैठे हैं कि व्यूह पूरा हो जाये। यह बेचारा पेड़ माध्यम है। भयंकर और तृषाग्रस्त प्रेतों-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को अपनी आत्मापर उतारकर छटपटाता है। दर्पण प्रश्न करता है, उत्तरको सुनता हूँ और दर्पणसे पूछकर अर्थ सोचता हूँ।

नीमके पेड़पर प्रेतपर प्रेत आकर टकराते हैं। सारा पेड़ भयपूर्ण स्वरसे झझकार उठता है। दर्पण बोलता है: 'तेरे अन्दर एक मणि है। तू उगल दे।' पर मैं लोभी, मैं कृपण, मैं मणिको मुँहमें दबाये जीवन-भर बैठा रहूँगा। मैं मणिको उगलूँगा नहीं। उसीमें मेरा 'स्व' है। कैसे त्याग दूँ? जिस दिन मणि नहीं रहेगी, उसके वियोगसे सिर पटककर मर जाऊँगा। नहीं, नहीं, मैं श्रीकृष्ण नहीं हूँ। मैं पतित, दीन-क्षुद्र मानव हूँ, जिसकी यही एकमात्र पूँजी है। दर्पण फिर बोलता है:

'मूर्ख, मणि उगल दे, तू अन्तरमें प्रकाशके ज़हरको पचा नहीं सकेगा।'

प्यारे दर्पण, ठीक कहते हो। मणि सभीको मिलती है, पर उगलनेका साहस सबमें नहीं होता। हमारे-जैसे मात खाये लोगोंके भाग्यमें सलीब कहाँ? ये निद्रानिमग्न आदमी, जो चारों ओर चलते देख रहा हूँ, यह स्लीप-वाकिंग-जगत्, ये रँगे चेहरे और रँगे हाथ क्या चक्रव्यूह प्रदान करेंगे! मणि उगलनेके बाद यदि चक्रव्यूह पा जाता तो वह भी एक बात थी।

अतः प्यारे दर्पण, सो जाओ। रात बहुत हो गयी। तब नीमकी शाखाओंपर-के प्रेत उड़ जाते हैं और आकाशसे स्वप्न उतर आते हैं।

हिन्दुस्तानमें कुछ फूल बड़े ही दबंग और अक्खड़ प्रकृतिके हैं, जैसे धतूरा और जवाकुसुम मानो दिनकरकी कविता हों। चम्पा तपोरता उमाकी तरह है, जिसके पास भ्रमर फटकनेका साहस भी नहीं कर सकता। सफ़ेद कचनार अज्ञेयजीके बुद्धिवादी प्यारका प्रतीक है। पारिजात सुमित्रानन्दन पन्तकी कविता है और रसाल-मंजरी प्रसादजीका सौन्दर्य-बोध। निरालाकी रसदृष्टि पीली सरसोंका मुक्त विस्तार है। इसे अभिजात फूलोंमें सर्वथा अपांक्तेय रखा गया है, पर स्नेहका स्रोत,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिससे प्रकाशका जन्म होता है और प्राणोंका पोषण होता है, और धरती-का श्रृंगार यही है। शोभा और श्रृंगारके विविध मापदण्डोंके प्रतीक इन पुष्पोंके रहते हुए भी मैं नीमके पुष्प-गुच्छका तिरस्कार नहीं कर पाता हूँ। यह अत्यन्त लघुकाय होता है। सफ़ेद, बीचमें पीली बिन्दी। पर इसकी भीनी-भीनी अलौकिक महक एवं धूमिल सफ़ेद झूलते हुए चँवरों-जैसी फूलोंकी झालरमें एक ऐसा आकर्षण है जो सस्ता, धीमा और मामूली होते हुए भी अपना अस्तित्व जता देता है। यह उन लघु क्षणों-का प्रतीक है जिनमें हमें आनन्दके कुछ कण मुफ़्त अनायास मिल जाते हैं और हमारा मन यदि रसबोधका पारखी है तो उन लघु क्षणोंकी पूँजीसे ही रसकी विशाल सरिता बहा सकता है। हाट-बाट, घर-देहात, बाग़-बगीचे—कहीं भी ऐसे क्षणोंमें अनायास भेंट हो जाती है। जब 'मैं' अपनी गुंजलकसे, क्षण-मात्रके लिए ही सही, मुक्त हो जाता है। नीमका फूल आनन्द और तृप्तिकी इसी सस्ती, मामूली पर असीम शक्तियोंकी प्रारम्भ-बिन्दु किसी कोमल विधाका प्रतीक है। विश्वमें सारी पराजयों, सारी विकृतियोंके बावजूद कुछ अति सीधा-सादा और सरल स्नेहमय तथा मनुष्यके लिए हवा-पानीकी तरह सदैव लभ्य, बच जाता है। सभी कुछ चुक नहीं जाता। कभी भी सभी कुछ चुक नहीं जायेगा, कुछ तो अवश्य ही बचा रहेगा। नीमका फूल 'कुछ शेष' का प्रतीक है। यह सारी कटुता और तिक्तताका जो समूचे पत्र-जाल और अगल-बग़लके सन्दर्भमें निहित है, अतिक्रमण करता हुआ गन्धके रूपमें जीवनके 'अस्ति' पक्षकी जय है। सारी कटुताओंको पराजित करके इसकी हलकी भीनी गन्ध मस्तकमें प्रवेश करके आत्माको क्षण-भरके लिए उल्लास और मुक्ति दे देती है। इसमें सन् '३० के 'क्रुद्ध तरुणों' की ललकार नहीं और न इसमें महा-युद्धोत्तर साहित्यकी मानसिक पराजय और कटु निराशाको कोई स्थान है। नीमका मामूली फूल साहित्यकी उस नयी विधाका प्रतीक है, जो समूची निराशा और पराजयका अतिक्रमण करके जीवनमें जीने योग्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्षणोंके दानोंको एक-एक करके चुन रही है। इस नयी विधाको यह परवाह नहीं कि 'खिरमन' तैयार होनेपर इसे जलानेके लिए कोई बिजली आ ही गिरेगी। ऐसी बिजलियोंका बल मनुष्य तोल चुका है। साहित्यमें 'हमारे बाद ही प्रलय !' का नारा बहुत चल रहा है, सबसे अधिक बुलन्द आवाज़ जॉर्ज ऑरवेलके प्रसिद्ध उपन्यास '१९८४' में व्यक्त हुई है।[1] '१९८४' का घटनाकाल आनेमें बीस वर्षकी देर है[2], तबतक मनुष्यकी आत्माका प्रकाश दुर्वह अधिनायकवादकी लौह प्राचीर छेदकर बाहर आ जायेगा, ऐसे लक्षण स्पष्ट हो रहे हैं। आत्माका लोहा सबसे कोमल और सबसे कठोर होता है। इसीसे सारी विकृतियोंके बावजूद कुछ मामूली, धीमी, सस्ती जीवनकी बूँदें प्रत्येक विकृत युगमें बच रहती हैं। नीमका फूल उसी मामूली, धीमे, सस्ते परन्तु अमर स्नेहका संकेत करता है।

■

१. सन् '४० के बाद आये अँगरेज़ उपन्यासकारोंमें जॉर्ज ऑरवेलका स्थान महत्त्वपूर्ण है। स्विफ़्टकी तरह चुभता व्यंग्य और तेज़-तर्रार ईमानदारी उनकी शैलीका ख़ास गुण है। उनका अन्तिम उपन्यास है : '१९८४', जिसे मृत्यु-शय्यापर लिखा गया है। यह आर्थर कोयस्लरके 'डार्कनेस ऐट नून' की तरह अधिनायक-वाद-विरोधी कृति है। यद्यपि ऑरवेलने स्पेनी युद्धमें समाजवादी दलकी ओर होकर युद्ध किया था और समाजवादमें विश्वास करते रहे, परन्तु रूसी क्रान्तिके अमानुषिक प्रभावोंसे विचलित होकर भावी विश्वका निराशापूर्ण चित्र '१९८४' में खींचनेको उनकी आत्मा बाध्य हो गयी। ऑरवेलको मृत्यु १९५९ में ४२-४३ वर्ष-की अवस्थामें हुई।

२. निबन्ध १९६४ में लिखा गया था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनियारा साँप

'राधा वासकसज्जा बनी है। वह वास-गृहमें अकेली बैठी है। उठ-उठकर दिशा-दिशामें तुम्हारा पन्थ निहार रही है। उसके अधर-मधुके पानमें कुशल तुम्हीं हो। हे नाथ, हे जगन्नाथ, राधा संकेत-गृहमें तुम्हारी प्रतीक्षामें अति व्याकुल है।' फिर भी कृष्ण नहीं आते हैं—राधा विप्र-लब्धा बनती है। 'सखि, श्रीकृष्णके नयन पवन संचालित नीलोत्पलकी तरह चंचल हैं। वे जिसके साथ आज रमण कर रहे हैं वह तो किशलय शय्यापर मेरी तरह ताप नहीं पाती होगी।' राधा बिलखती है। खण्डिता राधाको प्रातः श्रीकृष्ण मिलते हैं। 'हे हरि, हे माधव, तू कपटकी बातें न कर। सरसीरुहलोचन, तू वहीं जा जो तेरा विषाद हरती है।'

रात्रिका अन्धकार गाढ़ा हो चला था। दीपकके क्षीण आलोकमें बिरजू महाराजने एकतारेपर जयदेवके तीन पदोंका आवेगपूर्ण अधीर संगीत उतारा। बोल हवाकी धारामें विलीन हो चुके थे पर उनका अर्थ अब भी तैर रहा था। यह अर्थ शब्द-निरपेक्ष था। ऐसा लगा कि इस अर्थसे शब्दोंका कोई सम्बन्ध नहीं। शब्द तो अर्थका ऊपरी मैल है। जब अर्थ हृदयमें स्नान करके बाहर निकलता है तो शब्दोंके मैलसे रहित विशुद्ध स्फटिक बन जाता है। अर्थकी यह माया अभी टूटी नहीं थी कि बिरजूने कहना प्रारम्भ किया :

'वृन्दावनमें एक मणिधर साँप रहता था। वह अपनी मणिको सदैव मुखमें रखे रहता था। एक दिन वह मणिको उगलकर मथुरा चला गया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वहाँसे वह काला भुजंग फिर लौटा नहीं। मणि आज भी वृन्दावनमें उसकी प्रतीक्षामें प्रकाश बिखेर रही है।' फिर मेरी ओरसे दृष्टि हटाकर उन्होंने कहा, 'लीला जन्म लेती है सहनेके लिए। वह भी सुख भोग नहीं पाती। उसे मर्यादाको सहन करना होता है।'

बिरजू एकाग्र फ़र्शकी ओर देख रहे थे। दीपककी क्षीण आलोकमें मैंने देखा, वे धीरे-धीरे उस स्थितिमें जा रहे हैं, जिसे वैष्णवोंने 'गम्भीरा' कहा है। मैं चुप रहा। कुटीके बाहर बकुल और पारिजातका जंगल लगा था।

हवाका एक झोंका आया, फूलोंकी गन्ध लदा। वैष्णव गीत सुनकर जो मन विगलित होकर तरल बन गया था, वह धीरे-धीरे अशरीरी गन्ध बनकर बाहर आता हुआ ज्ञात सत्तालुप्त हुआ। ऐसा लगा कि वह हवामें घुली गन्ध मेरा ही मन है। ऐसा लगता था कि इस दीवारके बाहर इस अन्धकारमें सब-कुछ गलकर बह रहा है। सृष्टिका ठोस लय हो गया है और बाहरका सारा रूपमय जगत्, सारे पेड़-पौधे तरल अवस्थामें ही अपने रूपको सँभाले खड़े हैं। अब धीरे-धीरे यह दीवार भी पिघल जायेगी और इस धुँधले प्रकाशमें गलकर फिर समस्त सृष्टिके साथ धीरे-धीरे इसकी सत्ताका भी गन्धमें लोप हो जायेगा। तन्मात्राओंकी सृष्टिमें शब्द और गन्धका ही माध्यम रह जायेगा। मनमें यह माया कुछ क्षणों तक चलती रही। अचानक गद्यकी गदा धम्मसे सिरपर गयी और सुना एक परिचित स्वर—'भइया, चलो बड़ी देर हुई। पिताजी बिगड़ रहे हैं!'

बिरजू अर्थात् बृजराज मिसिर मेरे बालसखा हैं। बचपनसे ही साहसी और भावुक हैं। चेखुरी पण्डितके एकमात्र पुत्र और पिप्पलीगढ़ स्टेटके राजपण्डित घोसीरायके पौत्र। द्वादश वर्षकी अवस्थामें ही वयःसन्धिकी देहरीपर स्थित गृह-परिचारिकाको दोहा-चौपाईमें प्रेमपत्र लिखे। बात खुली और सबेरे बिरजू ग़ायब। कहाँ गये, कहाँ गये! खोज होने लगी। अन्तमें मिले रेलकी पटरीपर सोये हुए। वहाँसे सकुशल लाये जानेपर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनियारा साँप

'राधा वासकसज्जा बनी है। वह वास-गृहमें अकेली बैठी है। उठ-उठकर दिशा-दिशामें तुम्हारा पन्थ निहार रही है। उसके अधर-मधुके पानमें कुशल तुम्हीं हो। हे नाथ, हे जगन्नाथ, राधा संकेत-गृहमें तुम्हारी प्रतीक्षामें अति व्याकुल है।' फिर भी कृष्ण नहीं आते हैं—राधा विप्र-लब्धा बनती है। 'सखि, श्रीकृष्णके नयन पवन संचालित नीलोत्पलकी तरह चंचल हैं। वे जिसके साथ आज रमण कर रहे हैं वह तो किशलय शय्यापर मेरी तरह ताप नहीं पाती होगी।' राधा बिलखती है। खण्डिता राधाको प्रातः श्रीकृष्ण मिलते हैं। 'हे हरि, हे माधव, तू कपटकी बातें न कर। सरसीरुहलोचन, तू वहीं जा जो तेरा विषाद हरती है।'

रात्रिका अन्धकार गाढ़ा हो चला था। दीपकके क्षीण आलोकमें बिरजू महाराजने एकतारेपर जयदेवके तीन पदोंका आवेगपूर्ण अधीर संगीत उतारा। बोल हवाकी धारामें विलीन हो चुके थे पर उनका अर्थ अब भी तैर रहा था। यह अर्थ शब्द-निरपेक्ष था। ऐसा लगा कि इस अर्थसे शब्दोंका कोई सम्बन्ध नहीं। शब्द तो अर्थका ऊपरी मैल है। जब अर्थ हृदयमें स्नान करके बाहर निकलता है तो शब्दोंके मैलसे रहित विशुद्ध स्फटिक बन जाता है। अर्थकी यह माया अभी टूटी नहीं थी कि बिरजूने कहना प्रारम्भ किया :

'वृन्दावनमें एक मणिधर साँप रहता था। वह अपनी मणिको सदैव मुखमें रखे रहता था। एक दिन वह मणिको उगलकर मथुरा चला गया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वहाँसे वह काला भुजंग फिर लौटा नहीं। मणि आज भी वृन्दावनमें उसकी प्रतीक्षामें प्रकाश बिखेर रही है।' फिर मेरी ओरसे दृष्टि हटाकर उन्होंने कहा, 'लीला जन्म लेती है सहनेके लिए। वह भी सुख भोग नहीं पाती। उसे मर्यादाको सहन करना होता है।'

बिरजू एकाग्र फ़र्शकी ओर देख रहे थे। दीपककी क्षीण आलोकमें मैंने देखा, वे धीरे-धीरे उस स्थितिमें जा रहे हैं, जिसे वैष्णवोंने 'गम्भीरा' कहा है। मैं चुप रहा। कुटीके बाहर बकुल और पारिजातका जंगल लगा था।

हवाका एक झोंका आया, फूलोंकी गन्ध लदा। वैष्णव गीत सुनकर जो मन विगलित होकर तरल बन गया था, वह धीरे-धीरे अशरीरी गन्ध बनकर बाहर आता हुआ ज्ञात सत्तालुप्त हुआ। ऐसा लगा कि वह हवामें घुली गन्ध मेरा ही मन है। ऐसा लगता था कि इस दीवारके बाहर इस अन्धकारमें सब-कुछ गलकर बह रहा है। सृष्टिका ठोस लय हो गया है और बाहरका सारा रूपमय जगत्, सारे पेड़-पौधे तरल अवस्थामें ही अपने रूपको सँभाले खड़े हैं। अब धीरे-धीरे यह दीवार भी पिघल जायेगी और इस धुँधले प्रकाशमें गलकर फिर समस्त सृष्टिके साथ धीरे-धीरे इसकी सत्ताका भी गन्धमें लोप हो जायेगा। तन्मात्राओंकी सृष्टिमें शब्द और गन्धका ही माध्यम रह जायेगा। मनमें यह माया कुछ क्षणों तक चलती रही। अचानक गद्यकी गदा धम्मसे सिरपर गयी और सुना एक परिचित स्वर—'भइया, चलो बड़ी देर हुई। पिताजी बिगड़ रहे हैं!'

बिरजू अर्थात् बृजराज मिसिर मेरे बालसखा हैं। बचपनसे ही साहसी और भावुक हैं। चेखुरी पण्डितके एकमात्र पुत्र और पिप्पलीगढ़ स्टेटके राजपण्डित घोसीरायके पौत्र। द्वादश वर्षकी अवस्थामें ही वयःसन्धिकी देहरीपर स्थित गृह-परिचारिकाको दोहा-चौपाईमें प्रेमपत्र लिखे। बात खुली और सबेरे बिरजू ग़ायब। कहाँ गये, कहाँ गये! खोज होने लगी। अन्तमें मिले रेलकी पटरीपर सोये हुए। वहाँसे सकुशल लाये जानेपर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इनके मामा इन्हें नवद्वीप ले गये, जहाँ वे गौरांग मठमें रसोईदार थे। बादमें सुना गया कि बिरजू भाई वहींपर न्याय-वेदान्तकी शिक्षा ले रहे हैं। नवद्वीप न्याय-वेदान्तका गढ़ ठहरा। लोगोंने विश्वास कर लिया। एक दिन सन्ध्याको आजसे पाँच वर्ष पूर्व बिरजू नवद्वीपसे लौटे, तो साथमें एक वैष्णवी भी थी। वे न्याय-वेदान्तकी जगह-पर रसकी दीक्षा पाकर लौटे। फिर तो गाँवमें ऐसी खलबली मची—जैसी कि हनुमान्‌जीके मन्दोदरीके साथ प्रणय एवं विधवा-विवाहपर भी वानर सेनामें नहीं मच सकती थी। चेखुरी महाराजने अपने साले अर्थात् इनके मामाके चौदह पुश्तोंका पवित्र लोक-भाषामें उद्धार किया और सारे सम्भावित-असम्भावित सम्बन्धोंका उच्चारण किया तथा एकाध महीने बाद इस अपने एकमात्र पुत्रके साथ सन्धि कर ली। अब तो बिरजू प्रति शरद और वसन्तकी पूर्णिमाको मोर-मुकुट बाँधकर रास लगाते हैं। गाँवके लिए कौतुक है और इनके लिए रसकी साधना। यों बिरजूको वैष्णव पदावली और 'उज्ज्वल नील मणि' का अच्छा ज्ञान है। प्रायः वैष्णवजन सुसंगीत और पाक-कलाके माहिर होते हैं। इन दोनोंके आकर्षणसे, एवं बालसखा होनेके नाते भी, मैं जब घर आता हूँ, तो बिरजूके यहाँ घण्टों बैठता हूँ। अपनी 'मंजरी' के बारेमें उन्होंने बहुत बताया है। वे जयदेव और विद्यापतिके संस्कारोंसे उसे प्रेमाभिसिक्त किया करते हैं। उन्होंने कई बार भाव-विभोर होकर मुझसे कहा है—'मंजरीकी आँखें कृष्णकी आँखोंकी तरह हैं।' प्रारम्भमें यह बात जँचती भी थी। अब भी उसकी आँखें तरल और पिघली हुई हैं, पर पाँच वर्ष पूर्व सचमुच उसकी देह-लता क्लासिकल छन्दोंमें बँधी थी। मैं कभी-कभी मंजरीको 'राधा ठकुराइन!' कहकर हाँक लगाता हूँ, तो बिरजू गद्‌गद हो उठते हैं। वह भी प्रीति बरसाती हुई बोलती है: 'आयीं छोटे गुसाइं।'

मेरा मन बचपनसे ही यायावर है। यह अतीतके 'कजरी बन' में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रायः ऋड़का करता है। वैष्णव संस्कृति और भाव-साधनाके प्रति आकर्षण तो मुझे आनुवंशिक रूपमें मिला है। विरजूके निकट आकर कुछ-कुछ अनुभव होता है कि रसकी दीक्षाके गुरु चैतन्य महाप्रभुकी तन्मयता कैसी रही होगी! तन्मयता और भावप्रधान समर्पणके सर्वोच्च उदाहरण वे स्वयं ही थे। अपने जीवनके अन्तिम कालमें वे राधा भावके आवेशमें रहा करते थे। एक रात उन्हें स्वप्नमें ऐसा लगा कि कृष्ण आकर बैठ गये और बोले: 'राधा, तू उस दिन अभिसारकुंजमें अपने पैरोंका मंजीर भूल आयी थी। ला पहना दें।' कृष्णका कर-स्पर्श पाकर राधाने पैरोंको खींच लिया और तिनककर कहा, 'हटो भी!⋯⋯' महाप्रभुने ज्यों ही अपना पैर खींचा, नींद उचट गयी। आँखें खुलनेपर कृष्णको न पाकर अत्यन्त विकल हुए। अश्रुधार बहाते हुए दिव्योन्मादमें उठ खड़े हुए। उनके चरण नील समुद्र-की वेलापर जाकर रुके। नील जलका शान्त विस्तार और उसमें अर्ध-चन्द्रका झलमलाता प्रतिविम्ब! महाप्रभु विप्रलम्भकी आठवीं अवस्था दिव्योन्मादमें तो थे ही तुरन्त नौवीं अवस्था 'मोह' से उनकी चेतना आक्रान्त हो गयी। वे नील समुद्रको ही श्रीकृष्ण मान बैठे और भुजा पसारकर अनन्त जलराशिमें कूद पड़े। फल हुआ अन्तिम दशा, निर्वाण; इस दीन धरती और इस शान्त आकाशको वह महाप्रभुका अन्तिम दर्शन था।

गौड़ीय वैष्णव साधना मधुर भावकी साधना है। उसका आधार है कान्ता रति। इसमें भी महाप्रभुने परकीया प्रेमको श्रेष्ठतर इसलिए माना है कि बन्धनके कारण स्वकीयासे कहीं अधिक इसमें आवेग रहता है। परकीया रतिमें भी यह स्वसुखानुभूति-आश्रित नहीं है, जैसा कि कुछ माध्व वैष्णवोंमें मिलता है। यह तो एकमात्र प्रियकी सुखानुभूतिके लिए है। महाप्रभुने इस अवस्थाका नाम 'महाभाव' दिया है। गौड़ीय वैष्णव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रस-शास्त्रमें रतिके तीन भेद बताये गये हैं : साधारण, समंजस और समर्था। प्रथम दोनोंमें द्वैतका भाव वर्तमान रहता है। समर्थामें देह और मनकी, प्रिय और प्रियाकी, पूर्ण अभिन्नता स्थापित हो जाती है। समंजस रतिका उदाहरण कृष्ण-रुक्मिणी हैं। समर्था राधा-कृष्ण भावपर अवलम्बित हैं। समर्था रति और महाभाव दोनोंको भारतीय साहित्य और साधानामें पूर्णतः लानेका श्रेय महाप्रभुको ही है। विद्यापति और जयदेव तकमें यह अनुपस्थित है। महाभावकी साधनामें आकर्षण एकांगी नहीं, परस्पर और एक साथ होता है। गोदावरीके तटपर महाप्रभुने रामानन्द रायके साथ इस महाभावका जिसे 'मादन' भी कहते हैं, विवेचन किया था। राय रामानन्दने इस दशाका वर्णन अपने एक गीतमें करके महाप्रभुको सुनाया था। गीतमें राधा कृष्णसे नयनों-द्वारा मिलनेके बादकी दशा व्यक्त करते हुए एक स्थलपर कहती है : 'हे सखी, हम दोनोंके मनमें मनोभवका उदय हुआ। रमण और रमणीका भेद नहीं रहा। न तो मैं दूती खोजने गयी थी और न अभिसार ही किया। हम दोनोंका संयोग पंच बाणोंके बीच ही हो गया है।....अब जो यह विराग-की अवस्था है, तो तुझे दूती बना रही हूँ।'

ना सोई रमन ना हम रमनी। दुहुँ मन पेखल मनोभव जानी।
ना खोज लूँ दूती ना खोज लूँ कान। दुहुँ केरि मिलन मध्य पंच बान।
अब से विराग तुहुँ भेल दूती। सुपुरुष प्रेमक ऐसन रीती।

यह पूर्वरागका पद है। पर अशरीरी अर्थमें मिलन हो चुका है। चैतन्योत्तर वैष्णव साहित्यमें मान और प्रवासके कम पद हैं। पूर्व राग और प्रेम वैचित्र्य ही चैतन्योत्तर पदावलीका मूल विषय है। मिलनकी अपेक्षा विप्रलम्भपर ही अधिक ज़ोर है। वास्तवमें तत्कालीन कवियोंने महाप्रभुका प्रेमोन्माद एवं महाभाव स्वयं देखा था, इसीसे रति एवं मधुर भाव अपनी स्थूलताका परित्याग कर केवल आवेग-मात्र रह गये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आवेगकी चरम स्थितिका आस्वादन और प्रेमकी पारस्परिकता, यही दो तथ्य महाप्रभुकी रस-साधनाकी नींव हैं। महाप्रभु इसी अर्थमें राधा और कृष्णके संयुक्त अवतार माने जाते थे। यह संयुक्त देवत्वका आरोप ही महाभाव है।

प्लेटोने 'फ़ीड्रस' में मादनकी स्थितिमें देवत्वके आवेशका संकेत किया है। प्लेटोके कथनानुसार चरमसत्ताका एक ही रूपायन (फ़ॉर्म) दृश्यमान है। वह है सौन्दर्य। किसी सुन्दरको देखकर उसके प्रति जो रतिभावका मनमें उदय होता है वह उस चरम सुन्दरका आवेश है। चूँकि सुन्दर चरमसत्ताका रूपायन है, इसलिए जिस व्यक्तिमें इसका आवेश हुआ है, वह भी क्षण-भरके लिए देवता बन जाता है। प्लेटोने आगे चलकर स्पष्ट किया है, कि देवत्वका आरोप प्रेमीमें ही होता है, प्रेमिकामें नहीं। प्रेमिकाका सुन्दर शरीर जड़ निमित्त है, जिसपर चरमसत्ताके रूपायनकी छाया है, पर छायाका बोध प्रेमीको होता है। जगत् बोध-प्रत्यय है। अतः यह बोध ही सत्य है और जो इस बोधको पाता है, वही देवता बनता है, बोधका साधन होते हुए भी प्रेमिकामें यह आवेश नहीं होता। परन्तु चैतन्यदेवके महाभावमें यह बोध परस्पर है, एकांगी नहीं। प्लेटोकी व्याख्या महाभावसे नीचे सम्मोहनकी अवस्था है। मादनकी नहीं। समस्त युरॅपीय साहित्यमें रतिका रूप एकांगी है। 'रोमियो जूलियट' अपवाद है। आजका समस्त रति-परक साहित्य एकांगी भावपर आश्रित है, इसीसे वह सम्मोहन (सिडक्शन) और व्यभिचार-मात्रका चित्र देता है। भारतीय साहित्यमें महाभावकी पूर्ण उपस्थिति तो महाप्रभुके वाद होती है, पर इनके पूर्व समंजस-रति-प्रधान साहित्यमें भी पारस्परिकता विद्यमान है। समस्त भारतीय रस-कला ही युग्म भावपर आश्रित है। वात्स्यायनके कामसूत्रोंका उद्देश्य ही है रति-बोधकी पारस्परिकताका आस्वादन, एकांगी उत्तेजना या मानसिक बलात्कार नहीं।

मेरा जन्म तुलसीदासकी भूमिपर हुआ है। उनके द्वारा दिये गये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तराधिकारका मैं भी भागीदार हूँ, इसका मुझे औसतसे अधिक घमण्ड रहता है। परिवारमें श्री-सम्प्रदायकी साधना-पद्धति चलती है और विष्णुकी ऐश्वर्य मूर्त्ति तथा दाक्षिण्य मूर्त्तिकी आराधना, मानसिक रूपसे ही सही अब भी करता हूँ। महाप्रभुकी लीला-भूमि नीलाचल (पुरी) जाकर भी मैं जब विशाल नील गरजते रत्नाकरके तटपर खड़ा हुआ, तो मुझे समस्त वातावरणमें योग निद्रालीन हिरण्यगर्भ पुरुषका ही दर्शन हुआ। सहस्र मूर्द्धा सहस्रबाहु समुद्रको देखकर शेष सहस्रफणकी कल्पना अनायास हो जाती है। यह विष्णुका घोर दार्शनिक विग्रह है। उनकी ऐश्वर्य मूर्त्तिके साथ-साथ हिरण्यगर्भ रूपकी आराधना मुझे आनुवंशिक संस्कारोंसे मिलती है। तब भी मेरा मन कभी-कभी भटककर वृन्दावन चला जाता है। चाँदनी रातमें जब लोग सो जाते हैं, हवामें विचित्र गन्ध डोलती हैं, अन्तरके स्वप्न सोयी धरतीके रोम-रोमपर पुलक बनकर फिर अन्तमें स्वर बन जाते हैं, तो उस शान्त ज्योत्स्नामें नींद उचट जानेपर ऐसा लगता है कि यह चाँदनी नहीं, किसीकी वंशीके स्वरोंका बुना हुआ जाल है। कभी-कभी अकेलेमें ऐसा लगता है कि राधा पीछेसे कुंकुम मलकर भाग गयी है। मैं उसकी हँसी स्पष्ट सुनता हूँ। देवत्वके ये क्षण सदैव नही आते। पर कभी-कभी आते हैं। देवता स्वयं प्यारका भूखा है। वह सबके पास जाता है। कपाटको अनावृत्त देखकर निराश मन चला जाता है। भाग्यवश कभी-कभी भूलसे मेरे अन्तर्पट खुले रह जाते हैं, तो देवता अन्दर आ जाता है। स्नेहपूर्वक पूछता है : 'कैसे हो ? बहुत दिन बाद मिले हो ?'

मेरे मित्र, तुम जो नया साहित्य पढ़ते हो, नया साहित्य लिखते हो, सम्भवत: एक अर्थपूर्ण स्मितिके साथ मुझे रूमानी या भावुक कहोगे। पर यदि तुम वही हो, जिसने प्रथम उषाका अभिनन्दन किया, सूर्यमण्डलपर चढ़कर युद्ध किया, बादलोंका जाल डालकर आकाश लोककी उर्वशी-मेनकाको फाँस लिया एवं सीता तथा द्रौपदीकी कातरताको सुना, तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निश्चय ही तुम्हारा मन भी कभी-कभी भीगता ही होगा। डब्ल्यू० बी० येट्सने यह कहकर आह भरी थी—'हमीं लोग आखिरी रूमानी हैं।' पर आज ऐसा लगता है कि उपन्यासकी विधा चुकनेकी अवस्थापर आ गयी है, कल यह निश्चय ही चुक जायेगी और आदिम बीजोंको कविताके द्वारा मनुष्य फिर उगानेकी चेष्टा करेगा। विश्व-साहित्यमें इसके लक्षण प्रकट हो रहे हैं। दृष्टिकोण तो बदलकर ही रहेगा। डब्ल्यू० बी० येट्स और इलियटकी तुलना करते हुए जी० एस० फ़्रेजरने कहा है कि 'जब पाउण्ड और इलियट लोकप्रिय नहीं रह जायेंगे तो भी येट्सकी महानता अक्षुण्ण रहेगी, क्योंकि इलियट और पाउण्ड तो अपने ही युगके कवि हैं। येट्सकी विधा और वस्तु परम्परागत एवं सार्वकालिक हैं। सन् '६० या सन् '७० के दशकका जनमानस इतना बदल जायेगा कि इलियटकी प्रतिक्रियामें विधा और अभिरुचिका परिवर्तन होकर रहेगा।' (द मॉडर्न राइटर ऐण्ड हिज़ वर्ल्ड : जी० एस० फ़्रेजर, पृ० १७६)। आधुनिक साहित्यकी जो भावी प्रतिक्रिया होगी, उसका सम्बन्ध किसी-न-किसी रूपसे रूमान एवं भावुकतासे अवश्य होगा। भावुकता सहस्रफण शेष है। वह हमारी सृष्टि-के मूलमें कुण्डली मारकर बैठी है। शेषनाग जब एक फणसे दूसरे फणपर धरतीको लेते हैं, तो भूकम्प आता है। हर बार ऐसा लगता है कि धुरी खिसकी और धरती टूट-टूटकर चूर हो गयी। पर दूसरे ही क्षण स्थिति यथावत् हो जाती है। उसी भाँति भावुकताका शेषनाग भी फण बदलता है। सृष्टि भावुकताके जिस फणपर क्लासिकल युगमें थी, उसीपर भक्ति-युगमें नहीं रही। जिस फणपर भक्तियुगमें स्थित होती है, वह पुनर्जागरण युगसे भिन्न है। पर हमारा आदिम मूल इसी गुंजलकपर स्थित है। फण बदलनेके मध्यान्तरमें अभिरुचिका उथल-पुथल होता है। पर सनातन मूल्य अपने नये परिवेशके साथ फिर उपस्थित हो जाते हैं।

नया कवि मधुर रतिको अस्वीकार नहीं करता है, परन्तु प्रेम और भावुकताको देखकर 'छी, छो' करता रहता है। फलतः उसकी मधुर रति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सारे आवेगों एवं गहराईके बावजूद क्षुद्र वासना बन जाती है। वैष्णवों-की रस-साधना जिस रतिको हृदयके माध्यमसे देखती है उसे वह बुद्धि और विज्ञानकी दो आँखोंसे देखता है। उसे जो अन्तमें मिलता है, उसी-को ठीक समझता है। उसीको सुन्दर मान बैठता है। उसके पास आवेग है, तृषा है पर इसे शीतल करनेके लिए हृदय-रस नहीं। अतः विज्ञानकी दृष्टिसे उसे 'सहानुभूति' हाथ लगती है, जिसे वह अपने आवेगकी आँचमें रखकर वासनाका रूप दे देता है। आवेग है ही, तो हृदय-रसका तिर-स्कार करनेसे क्या लाभ ?

नया कवि सोचता है : 'रुद्रके तृतीय नयनने जिसे भस्म किया, वह वासना नहीं थी। वह तो छोटा, नटखट शिशु था, प्रेम-देवता (क्यूपिड), वनदेवियाँ जिसके प्रकाशमें स्नान करनेका साहस नहीं करती थीं। उस दुष्ट शिशुका भस्म हो जाना तो ठीक ही था। पर वासना तो सुन्दर है।' (बुद्धदेव बसु : 'देवता दूई') नया कवि अन्धकारमयी वासनाको सुन्दर मानता है, पर प्रेम देवता उसे नहीं भाता ! यह उसकी स्पष्ट घोषणा है। वासना सुन्दर ! वासना कमनीय ! परन्तु इसके प्रतिकूल वैष्णवोंकी मधुर रति तथा रूमानी प्रेम कम या वेश वासनाहीन है। उसमें कामगन्ध वर्जित है।

उठे मजीठी रंग ! ओ राधा, ओ प्रिया, स्मर गरलखण्डनम् मम शिरसि मण्डनम् देहि पदपल्लवमुदारम् ! कामके दमनकी यह नयी शैली है ! यहाँ स्मर दमन रागसे होता है। इसीसे वैष्णव अनुराग रंगहीन नहीं, निरंजन नहीं। राधाका कुंकुम रंगहीन कैसे होगा ! रस, 'उज्ज्वल रस' पर राग जिससे रस पैदा होता है रंगीन है। वैष्णव रसशास्त्रमें 'उज्ज्वल चन्द्रिका' एवं 'उज्ज्वल नील मणि' के अनुसार राग दो प्रकारका होता है—नील और रक्ताभ। नील जीवनको परिधानकी तरह सज्जित किये हुए है और ऊपरसे आच्छादित करता है, जैसे श्रीकृष्णका चन्द्रा-वली और सत्यभामासे प्रेम। जो अन्तरमें स्थित है और आत्माको रँगता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, वह राग है रक्तिम। यह किसी वाह्य मर्यादाकी अपेक्षा नहीं करता। इसके भी दो भेद हैं : कुसुम्भी (रक्ताभ पीत) और मांजिष्ठ या मजीठी (पीताभ रक्त, गुलनार)। कुसुम्भी स्वयं प्रकाशित नहीं होता है, जैसे राधाकी सहचरियोंका प्रेम, परन्तु मजीठी रँगकी अलग अपनी सत्ता है। यह मजीठी प्रेम राधाका है! टह-टह गुलनारपर हलकी पीताभा लिये हुए।

व्यक्ति-व्यक्तिमें राधा है। जब वह हँसकर उत्तरीयमें रंग लगा देती है तो श्रीकृष्ण बनना ही पड़ता है। तुम मानो या न मानो! सारा जग वंचना और व्यंग्य करे, पर शीश उठाकर कवीन्द्र रवीन्द्रकी भाँति स्वीकारना पड़ता है :

'मैं तो जन्मसे ही रोमाण्टिक हूँ। मैं उसी पथका पथिक हूँ जिसकी ओर दक्षिण वातास इशारा करता है, जिस अलक्ष्य आकाशकी ओर पक्षियोंका इंगित जाता है एवं माधवीके अदृश्य आह्वानसे प्रेरित होकर जिस पथकी ओर मधुमक्खियाँ दौड़ती हैं। यह सत्य है कि वह सत्य है, यह तर्क मेरे निकट मिथ्या है!'

···आमि जन्मे रोमाण्टिक—
आमि सेई पथेर पथिक
जे पथे देखाय चले दक्खिने वातासे
पाखिर इशारा जाय जे-पथेर अलक्ष्य आकाशे
मौमाछि जे-पथे जाने
माधवीर अदृश्य आह्वान।
एटा सत्य किंवा सत्य ओटा
मोर काछे मिथ्यासे तर्कय।

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

डूबता हुआ देवयान

ईश्वरने एक बार अनातोले फ्रान्ससे कहा, जब वह विडम्बनाओंके स्वर्गमें निवास करता था : "देखो, अनातोले, तुम तो जानते ही हो वह सब तुम्हारा मज़ाक़ था। मैंने भी उसका कोई खयाल नहीं किया। पर उस दिन बुद्धि मेरे पास आयी और कहने लगी, देखो, ईश्वर, तुम भ्रम क्यों फैलाते हो कि तुम्हारा भी कोई अस्तित्व है। अरे तुम्हें अच्छी तरह मालूम है, तुम्हारा कोई अस्तित्व कभी नहीं था।" कहकर वह इतराती हुई चली गयी। ईश्वर आगे कहता गया—"और मैं कहता हूँ, अनातोले, ज़रा इन बुद्धिके बच्चोंको तो देखो, विज्ञान, पूँजीवाद और उद्योग, (मार्क्स-वादका जन्म तब नहीं हुआ था पर श्रीमती बुद्धि आसन्नप्रसवा थीं) इनके चेहरे हमारे विरंचिके प्रथम प्रयोग आदि दानवोंकी तरह हैं और ये जन्म-से ही सिरसे पैर तक शस्त्र-सज्जित हैं।......और देखो, ऐसा लगता है कि मनुष्य इनके शासन-चक्रमें अधिक विकृतिका सेवन करेगा। मुझे दिखाई दे रहा है, भविष्यमें मृत्यु भी स्वाभाविक नहीं होगी, जीवनकी कौन कहे! मृत्युके दो ही मार्ग शेष रह जायेंगे : आत्मघात और हत्या। अनातोले, तुम्हें आश्चर्य होगा कि बुद्धि, इस आत्मघात और इस हत्या, दोनोंको जीवनकी सर्वोच्च दार्शनिक साधना एवं सामाजिक यज्ञका रूप दे देगी।" ऐसा कहते हुए ईश्वरपर श्वेत मणि सोपानोंकी ओर चला गया। आज वह कुछ उदास था। खाली हाथ। न तो शंख-चक्र था और न मुरली।'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुछ दिन पूर्व इसे कहीं पढ़ा था। बेचारे ईश्वरको लाचारीपर दया आ गयी। मन-ही-मन इस सहनशीलताकी सराहना भी की। भला ईश्वर क्या नहीं कर सकते हैं। वे राईको पर्वत करनेवाले जब चाहें तब मज़ा चखा दें, इन बुद्धिके बच्चोंको। चाहें तो महादेव भाईसे कहकर प्रलय करवा दें। चाहें तो विधाताके पदपर हनुमान्‌जीकी नियुक्ति करके शीर्ष-हीन मानवोंकी सृष्टि करावें, जिनके नाक-कान पेटमें हों—ओथेलोके यात्रा-देशके किंपुरुषोंकी तरह। मैं तो उनके अस्तित्वमें घोर विश्वास करता हूँ। राहुलजीकी समस्त ग्रन्थावली पाठ कर जानेपर भी, हाईस्कूल-की कौन कहे, एम० ए० तक अप्रैलसे जून तीन मासके लिए सिरपर लघु शिखा भी रखता आया हूँ। प्रगतिशील मित्र कुछ कहते तो तुरन्त उत्तर देता था, "भाड़में जाये तेरी प्रगतिशीलता। जीवनका प्रश्न सम्मुख खड़ा है और तुम ····। देखा जायेगा जुलाईसे।" और अपने हिन्दुस्तानकी तो यह परम्परा रही है। मीमांसाकारने ईश्वरके अस्तित्वका खण्डन करके अन्तमें 'ॐ नमो पुण्डरीकाक्षाय नमः' कहकर प्रायश्चित्त कर लिया कि व्यर्थ कटुता क्यों पैदा की जाये।

खैर, इस देशकी तो बात ही और है। यहाँ अनीश्वरवादकी धारा बुद्धके जन्मसे बहुत पूर्व विद्यमान थी और यहाँ ईश्वर भी कुछ भलेमानुस-जैसा रहा। याहवेह (जेहोवा) की तरह वज्र उठाकर यहाँ उसने घोषणा नहीं की—"मैं अत्यन्त क्रुद्ध और महाद्वेषी देवता हूँ, जो मेरी उपासना नहीं करेंगे उनको धूलिमें मिलाकर छोड़ूँगा।" और न अनुयायियोंने ही चार्वाक या अजित केशकम्बलको ज़िन्दा जला देनेका प्रयत्न किया। इस देशमें अनीश्वरवाद बौद्धधर्मके रूपमें राज्यधर्म भी बना। पर यह 'बुद्धि-वाद' नहीं 'ज्ञानवाद' का पोषक बना रहा। ज्ञान सर्वांग साधना है और बुद्धि (जिस अर्थमें पश्चिमी दर्शनने पाया है) अन्तमें जाकर शिश्न-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उदरपर ठहर जाती है। इस देशका राष्ट्रीय दर्शन वेदान्त अपने घोर रूपमें ज्ञानकी साधना होते हुए भी ईश्वरका (आराध्य देवताके रूपमें) निषेध है। पश्चिममें कुछ इस क़िस्मका ज्ञानवाद उपज पाया नहीं। बुद्धिकी वकालत १८वीं शतीके फ्रेंच दार्शनिकोंने प्रारम्भ की। परन्तु बुद्धिवाद आसुरी हो उठा रोमाण्टिक अहंवादियोंके स्पर्शमें आकर। वायरन इनका आदर्श था। नीत्सेने उन्मत्त स्वरोंमें सरे बाज़ार घोषणा की—"सुनो रे भाई, सुनो! अरे, ईश्वर मर गया!" सारे युरॅपने इस वाणीको सुना और अभिमत दिया—'ए बिग इवेण्ट! महान् घटना! अब हम सब लोग ही नायक (हीरो) बनेंगे!'

पर ईश्वरकी मृत्युका अर्थ होगा 'अतिमा' (ट्रान्सेण्डेन्सका पर्याय और सुमित्रानन्दन पन्त-द्वारा अनुमोदित) की मृत्यु। सौन्दर्य, स्नेह, करुणा, दया एवं पुरुषार्थ आदि मूल्य, जो अबतक जीवनको इस शून्य-देशमें आधार प्रदान कर प्रतिष्ठित किये थे, अतिमाके न रहनेसे रिक्त अर्थहीन हो जायेंगे, क्योंकि ये अपने चरम रूपमें अतिमापर ही निर्भर हैं। समस्त भावात्मक और दार्शनिक साधनामें, अतीतकी सारी लहलहाती खेतीमें आग लग जायेगी। नीत्से भावोंके उपवनमें लगी इस ज्वालाकी कल्पना कर चुका था। अपने अन्तरालके फरिश्तेको पागल रूपमें पहचानते हुए उसने इस प्रकार लिखा है:

"तुमने उस पागलकी बात नहीं सुनी, जो दिन दोपहरमें लालटेन जलाकर बाज़ारमें चिल्लाता हुआ दौड़ रहा था—"मैं ईश्वरको खोज रहा हूँ।"···· (फिर ईश्वरको न पाकर) वह चिल्लाया—"ईश्वर कहाँ है? हमने और तुमने मिलकर उसकी हत्या कर दी है।···किसने हमें वह स्पंज दिया जिससे पोंछ हमने सारी क्षितिज रेखाको ही मिटा दिया? क्या रात्रियाँ, अनवरत रात्रियाँ, नहीं आ रही हैं? क्या दोपहरीमें ही लालटेन जलाकर हमें तैयार नहीं हो जाना चाहिए?···सुनो, उनकी आवाज़ सुनो जो ईश्वरकी क़ब्र खोद रहे हैं। हमने उसे मार डाला है। पर इससे मिला

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्या ? क्या इस महान् कार्यको सहन करनेकी शक्ति हममें है ? क्या हमें इसके लायक़ नहीं होना पड़ेगा ? क्या हमें ही स्वतः ईश्वर नहीं होना पड़ेगा ?"

नीत्सेके पागलकी बात सुनकर बाज़ारकी जनता हँसती है। वह सोचता है : 'अभी इनके पास ख़बर नहीं पहुँची है। ख़बर रास्तेमें ही है। पर ये ही लोग उसे मारनेवाले हैं, और आश्चर्य है कि ये नहीं जानते।'

युरॅपके बुद्धिजीवी-क्षितिजमें प्रथम महायुद्धके पहले ही देवलोक अस्ताचलपर चला गया। (कभी-कभी ऐसा लगता है, कीर्केगार्द एवं अन्य आधुनिक आस्तिक अस्तित्ववादियोंकी अरुणाभा अस्ताचलकी ही अरुणाभा है। इसकी अरुणाई जीवन और उदयका भ्रम मात्र देती है।) बौद्धिक जगत्में भौतिकवादी दर्शन, यान्त्रिक मनोविज्ञान और अन्तमें मार्क्सवादने श्रद्धाप्रधान विश्वासोंको पंगु कर दिया। ईश्वरके स्थानपर मानवमुक्तिके प्रति नवीन श्रद्धाका बीजारोपण किया गया। फिर मार्क्स-वाद, जो इस नवीन श्रद्धाकी आधारभूमि था, एवं समाजवादी व्यवस्थाके संयुक्त प्रयाससे यह मानवमुक्ति एक विरूप मज़ाक़ बनकर सामने आयी। फलतः आज सारे विश्वास, सारी आस्था समाप्त ! पर इस समूची प्रक्रिया-का प्रारम्भ उस दिनसे होता है जिस दिन बुद्धिने ईश्वरको, विश्वासको, ललकारा था।

ईश्वरको अस्वीकृत करके मनुष्यने बुद्धिको स्वामिनी और कामिनी बनाया। यह मनुष्य सम्भवतः प्रभु और पिताके नियन्त्रणसे ऊब गया था। बुद्धिका उन्मत्त लालसा-नृत्य प्रारम्भ हुआ। ग्रीक पुराणोंमें सृष्टि-की आदि जननी यूरीनोमके वासना-नृत्यका वर्णन है। महासागरकी उत्ताल तरंगोंपर नग्नदेह मुक्तकेश देवी नृत्य करने लगी। देवीके अंग-अंगसे वासना-रसका संचार हो रहा था। अनन्त जलराशिसे घोर सर्प

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकट हुआ और देवीकी जांघों और कटि भागसे लिपट गया।···फल हुआ सृष्टिका प्रारम्भ और अतिदानवों (टाइटन) का जन्म। बुद्धिका लालसा-नृत्य भी कुछ इसी प्रकारका है। प्रत्येक मनुष्यके अन्दर एक असन्तुष्ट व्यक्तित्व है, जो क्षुधापीड़ित है। वह बुद्धिके द्वारा लालसा रस पीकर उन्मत्त हो उठता है और इस बहु-वल्लभा प्रिया—स्वामिनी बुद्धिके भैरवी चक्रमें आ फँसता है। यह ऐसी प्रिया है जो स्वतः रिक्त नहीं होती, पर असन्तुष्ट व्यक्तित्वके सर्प इस भोगसे रिक्त हो जाते हैं। फिर बुद्धि इन्हें उसी रूपमें फेंक देती है, जिस रूपमें यूरीनोमने अपनी तृप्तिके बाद महा सर्पको अतलमें फेंक दिया था। फल होता है व्यक्तित्वकी रिक्तताको भरनेके लिए असन्तोष, आत्मघात, विद्रोह एवं दुःख तथा भयकी उपासना एवं अजनबीपनकी कपाल-साधना!

तुलसीदासने लिखा है, निशाचरोंका बल प्रदोष वेलामें बढ़ जाता है। 'मानस'के अनुसार कहा जाता है कि हनुमान्‌जी शामको लड़ाईसे लौटकर ज्यों ही जलपान करने बैठते थे कि वे सब फिर चढ़ाई कर देते थे और क्षुधित मारुतिका क्रोध और प्रचण्ड हो उठता था। आज भी लगता है युरॅपका अस्ताचल क्षितिज विस्तृत होकर विश्व क्षितिज बन गया है और यह युग मनुष्य जातिके भाव-विकासकी प्रदोष वेला है। दैवी शक्तियाँ, जो विश्वासपर, श्रद्धा और यज्ञपर जीवित रहती हैं, आज अस्तोन्मुख हैं। मनुष्य इनके अभावमें अकेला पड़ गया है। असुर उसके अन्तरालमें ही है। वह प्रबल हो उठा है। आज सरस्वती इसी असुरकी महिमामें आर्यागान करनेको बाध्य है। कवि इसी असुरसे प्रार्थना करके शब्द माँगता है।

"हे औघड़, आज प्रसन्न होओ। दो मुट्ठी शब्दोंके दाने दे दो। मैं आकाशमें इन दानोंकी खेती करूँगा। साहित्यकी आकाश-फ़सल उगेगी।

"हे अघोर, मैं तुम्हारे सुखके लिए अपनी गिराको निर्वसन कर तुम्हारे सम्मुख खड़ा कर सकता हूँ। यह वह वरनारी है जो वसन बिना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही शोभा पाती है।

"हे भैरव, तुम्हारे लिए मैं इस गिराका वध करके इसका रक्त तुम्हारे कपाल-पात्रमें ढाल दूँगा। तुम प्रसन्न होकर मुझे शब्दोंके दो मुट्ठी दाने दे दो।"

औघड़ मदोन्मत्त होकर हँसता है और प्रदोष बल पाकर अपनी ताक़त सँभाल नहीं पा रहा है। यह अपनेको 'प्रति ईश्वर' (ऐण्टी-क्राइस्ट !) मान बैठा है। एकदम नया विधाता ! नया विश्वामित्र ! यह अति क्षमाहीन है। यह शक्तिशाली है। सृष्टि रचनामें समर्थ भी है, पर केवल मृण्मय सृष्टि। इसका माध्यम भूत, जड़तत्त्व मात्र है। अतः यह दिव्य शरीर और दिव्य मूल्योंका जनक नहीं हो सकता। ईश्वर चित् और अचित् (जड़) दोनों प्रकारकी सृष्टियोंका विधाता है। ऐसा यह 'प्रति-ईश्वर' नहीं हो सकता। रामानुजाचार्यने विशिष्टाद्वैतमें चित्-अचित्—संयुक्त शरीरसे विशिष्ट विष्णुकी कल्पना की है। श्री, धृति, कीर्त्ति, मेधा (सरस्वती), सौन्दर्य, करुणा, स्नेह आदिको विष्णुके शरीरकी चित्-विभूतियाँ कहा गया है। प्लेटोकी भाषामें ये 'प्रत्यय' हैं, जो चरम रूपमें ईश्वरके अंग हैं। ये प्रत्यय अचित् या जड़से सृजित नहीं। जड़से सृजित प्रत्यय हैं : शारीरिक उल्लास, गरम स्पर्श, अतृप्ति, क्रूर मदोन्मत्तता। यह 'प्रति ईश्वर', नया विधाता, इन्हींकी सृष्टि कर सकता है, परन्तु जिस ईश्वर (या जिस विश्वास) की हत्या कर दी गयी है वह दोनोंका विधाता था। वह दोनोंको वरदान देनेमें सक्षम था। नया विश्वास, नयी आस्था, नया विधि, पर अधूरी सृष्टि ! बुद्धि कहती है : 'घबराओ नहीं। मैं बताती हूँ। ईश्वर मर गया तो कोई बात नहीं। मैं तुम्हें ही अतिमानव बना दूँगी। तुम्हारी सन्तानें अतिमानव होंगी। अतिमानव ! सुपरमैन ! तुम उस ईश्वरकी तेजहीन प्रजा थे। पर मैं एक बार तुम्हारे हाथ पकड़ लूँगी तो तुम्हारी दुर्बल भुजाओंमें दशाननका बल आ जायेगा।'

बुद्धिने सुझाया कि यह अतिमानव मनुष्यका उच्चतम प्रस्फुटन होगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर अतिमासे सम्बन्ध विच्छिन्न हो जानेसे वे सारे मूल्य-प्रेम, करुणा, सौन्दर्य आदि—जिनका अस्तित्व अन्तमें अतिमापर ही जाकर टिकता है, मनुष्यके द्वारा तिरस्कृत होते गये। उनकी सत्यतामें उसका विश्वास न रहा। फल हुआ कि यह अतिमानव आत्माकी घोर पराजयके रूपमें सामने आया, फोर्ड, राकफेलर, हिटलर और माओ बनकर। अन्तर्वासिनी यमुना जाह्नवी सूखकर फल्गु बन गयीं। अतिमानवके स्थानपर कुछ अतिदानव (टाइटन) पैदा हो गये। शेष मानवसमाज कीट पतंग या चींटीकी तरह हो गया। दो नये वर्गोंका उदय हुआ : एक 'लघुमानवों'का विशाल वर्ग और दूसरा दो-चार पूँजीपतियों और अधिनायकोंका 'टाइटन' वर्ग, जिसके हाथमें फाटककी चाबी रही। पर यह सेण्ट पीटरवाली चाबी नहीं है। यह उस फाटककी चाबी है जिसके सिंहद्वारपर लिखा है : 'इसमें एक बार प्रवेश करनेपर अपनी समस्त आशाएँ त्याग दो!' गेटेको यह अवस्था ज्ञात थी। इसीसे बुद्धिके सुझावको उसने 'फास्ट' लिखकर नामंजूर कर दिया। पर उसके द्वारा विरचित देवदूतोंके रुदनको किसीने सुना नहीं। ईश्वर मन-ही-मन हँसा। अतिमाकी शक्तियोंने करुणासिक्त आँखोंसे पतन, पराजय, अग्निकाण्ड और बलात्कार देखा। सद्यःजात बालिकाओंका शील-भंग देखा। किसी मदोन्मत्त औरंगज़ेब और हिटलरके घोड़ेकी टापोंके नीचे कुचलते गये शिशुओंको देखा, जबकि उनके असहाय पिता उन टापोंका चुम्बन कर रहे थे!

आजका जगत् लघुमानवोंका बृहत् भयत्रस्त समुदाय है। भयके मारे, 'ऐंग्स्ट'के चक्रके नीचे दबा हुआ, मनुष्य चूहेकी तरह पड़ा है। उसका 'स्व' प्रज्ञासे हीन चूहा-व्यक्तित्वको पाकर अपनी ग्लानिसे दबा हुआ है। वह आत्मग्लानिसे ऐसा सिमटा है कि एक-दूसरेके निकट जानेका उसमें साहस नहीं। फलतः वह या तो 'आत्मघात' करनेकी सोचता है अथवा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वकेन्द्रित शुतुरमुर्ग-दर्शनपर आधारित 'विद्रोह'।....अब तो केवल एक उपाय है। वह फिरसे शक्तिशाली देवताको (इस 'प्रति ईश्वर'का परित्याग करके) अपनी प्रज्ञामें उतार दे। यदि वह देवता कागकी आत्मामें उतरता है तो उसे मयूर बना देता है। यदि वह देवता मेंढ़ककी आत्मामें उतरता है तो उसे महामत्स्य तिमिंगल बना देता है। यदि वह देवता इस लघु-मानवके चूहा-व्यक्तित्वमें उतरेगा तो उसे सिंह बना देगा। तभी लघुमानव अरविन्द-दर्शन-द्वारा प्रख्यात अतिमानव बन सकेगा। इसके सिवा अन्य कोई मार्ग नहीं। सामूहिक स्तरपर यह दिव्य-अवतरण ही एक मात्र मार्ग है।

बुद्धि कह देगी : 'फ़िज़ूल बात ! वह देवता तो कभीका मर गया।'

पर देवता मरा नहीं है। वह दिवस-रात्रि, साँझ-उषाके अन्तरालमें छोटे-छोटे क्षणोंमें जब जीवनकी धड़कन दर्द बन जाती है, अचानक स्पर्श करके हट जाता है। वह देवता बड़ा धीर है। वह धीर नायक है। उसका प्यार भी धीर, अनन्त एवं मुक्त है। तुम्हारी जन्म-जन्म तक वह प्रतीक्षा करता रहेगा। कभी-न-कभी तो आओगे ही उसके पास। वह धीरोदात्त नायककी भूमिका सदैवसे निभाता आया है। वह स्नेहके द्वारा खरीदकर गुलाम बनाया जा सकता है।

टी० एस० ईलियटने कहा है कि भविष्य दिन-पर-दिन बुद्धिप्रधान होता जायेगा अतः धर्मकी अस्तित्व-रक्षाके लिए उसे बुद्धिप्रधान बना देना आवश्यक है। सम्भवतः ईलियटका तात्पर्य है उसे ज्ञानाश्रित और अधिकाधिक दर्शनप्रधान बनानेसे। पर उस अवस्थामें भी कोई-न-कोई उपासना-पद्धति तो रखनी ही होगी। देवताकी सबसे उपयुक्त उपासना होगी उसको सहज साधना। सहज ज्ञान और विवेकपर आधारित नहीं है। वह स्वभावका पुत्र है। आत्माके अश्रुजलसे स्वभावको सींचनेपर सहज साधना पल्लवित होती है। हमारा देवता अब हमारा त्राता एवं पाप-मोचन नहीं बनने जा रहा है। हमारा स्वर्ग-नरकमें विश्वास नहीं। त्राण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और उद्धारके टिकिट बहुत बेचे गये। वह हाट उठ गयी। उसमें देवताका कोई दोष नहीं था। वह एक अनिवार्य ऐतिहासिक आवश्यकता थी। उसे भूल जाना होगा। आज तो देवता कवि है, प्रेमी है। उसे कवि-सम्राट् और परम प्रियतम, जीवन देवता, मानकर उससे सहज सम्बन्ध स्थापित करना होगा। कविसे क्या माँगोगे ? कविसे जाकर कहो : "हे कवि, मुझे एक बीड़ी दो, अथवा भारतवर्षका राजा बना दो, अथवा मेरा मुक़दमा जिता दो।" तो बेचारा कवि निरुत्तर मुँह ताकेगा या उठकर चल देगा। कवि प्रकाश देता है, रसका आस्वादन कराता है। देवतासे भी इसीकी अपेक्षा करो, अधिक नहीं। आज हाट-बाज़ारोंमें टके सेर बिकनेवाला देवता बुद्धिके अतिदानव बेटोंसे टक्कर लेनेमें समर्थ नहीं। लोहेको गलाने-के लिए ऊष्मा चाहिए। चट्टान तोड़नेके लिए अटूट जलधारा चाहिए। लोहे और चट्टानके अतिमानवोंको दलित करनेके लिए ऊष्मा और जल-धारा हमें नये देवताके आशीर्वादसे प्राप्त होंगे। इस आशीर्वादके बिना हमारे कर्मकी फ़सलको, हमारे भावोंकी लहलहाती खेतीको, बुद्धिके महिषासुर चर डालेंगे। 'घर' और 'वन'की मध्य-स्थिति रामकी सहज साधना ही हमारी नवीन उपासना होगी। अबतक देवताका अवतरण व्यक्तिमें होता रहा है परन्तु इस नयी सहज-साधनासे पूरे समूहमें दिव्य अवतरण होगा। देवताको भी अब अवतारकी नयी सामूहिक शैली ग्रहण करनी होगी। मैं अवतारवादी हूँ और प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आछीका पेड़, पैशाची; जरथुस्त्र और मैं

मेरे दरवाज़ेके ठीक उत्तर तरफ़ परती मैदान है। इसके एक कोनेपर एक अकेला आछीका पेड़ खड़ा है। उसके बाद दूर क्षितिज तक कहीं पेड़-पल्लव नहीं दिखाई देता। अचानक नज़र पड़नेपर उसकी आकृति सादे आसमानकी पृष्ठभूमिपर ऊँटनुमा प्रेत-यानकी तरह लगती है, जो शापकी तरह हमारे 'सिवान' पर उतरकर रुक गया है। रातके सन्नाटेमें कुछ देर तक तजबीज़ करके देखनेपर यह इन्द्रजाल बदलता-सा ज्ञात होता है और उक्त छायाबिम्ब—'सिल्यूएट' में नया अर्थ जन्म लेता है। गोया एक कमर झुकी वृद्धा खड़ी हो। कभी-कभी उसका पोपला मुँह खिंची असंख्य रेखाओंके साथ स्पष्ट हो जाता है और उसकी आँखोंमें उठनेवाले क्रोध, घृणा, अपमान और दैन्य बारी-बारीसे उभरते ज्ञात होते हैं। यह सब कुछ साफ़-साफ़ एक मिनिट तक चलता है। लगता है, यह हमारे गाँवकी 'स्फिंक्स' है और चुपचाप बरसोंसे गाँवको ओर घूर रही है, शायद इस प्रतीक्षामें कि कोई उन आँखोंकी भाषाका सही अर्थ निकालेगा। हम लोग आपसमें कहते हैं: 'हमारे गाँवका भी एक ज़माना था, पर अब क्या? अब तो लगता है इसका 'डीह' ही सो गया है।' शायद यह 'स्फिंक्स' इस प्रतीक्षामें है कि कोई इन आँखोंकी भाषा पढ़े और 'डीह'–देवताको जगावे।

आछीका यह पेड़ कुछ ऊँची सतहपर है और उसपर ढालू होनेकी वजहसे मेरे दरवाज़ेपर-से लगता है कि यही धरतीका अन्त है, और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यही आछीका पेड़ धरती और नील आकाशके महामिलनका हरा-हरा सबुजनील गवाह है। एक बार मैं स्यालदहवाली ट्रेनसे सँकरीगली घाटसे कलकत्ता आ रहा था। ज्योंही ट्रेन बोलपुर—शान्तिनिकेतनके पास पहुँची कि एक बंगाली मित्रने क्षितिजकी ओर उँगली दिखाते हुए कहा—"राय बाबू, समग्र विश्वमध्ये, पृथ्वी-आकाशेर महामिलन एकमात्र एई थले। अन्यत्र कोथाओ ए रकम पावा जाय ना।" हमने कहा—"बिलकुल ग़लत साहब। धरती और आकाशका महामिलन हमारे गाँवके सिवानपर आछीके पेड़के पास होता है।" आखिर मैं अपने गाँवकी गौरव पताकाको झुकने क्यों दूँ? लड़ाई होते-होते बची। रवीन्द्रनाथके अप्रत्यक्ष सन्दर्भके कारण विरोधीपक्षका पलड़ा भारी था। लोगोंने शायद मेरे कथनकी ईमानदारीको शककी नज़रोंसे देखा था। पर जन्मभूमिकी गरिमाके प्रश्नपर मैं बहुत ईमानदार नहीं हूँ। आखिर उस ईमानदारीसे क्या फ़ायदा जो गाँव, देहात, देश-समाजके काम नहीं आयी?

जेठ-वैशाखके महीनेमें आठ बजे सुबहसे छह बजे शाम तक लू बहती है। आगका दरिया आसमानसे उतरकर धरतीपर वन्याकी तरह बहने लगता है। वातावरणका संगीत उदास और धू-धू, हू-हू हो उठता और कभी-कभी यह हू-हू एक लम्बी रेखामें खिंचा हुआ दूर तक चला जाता है। शाम होनेपर भी दो घड़ी रात तक गरम-हवा चलती रहती है। फिर धीरे-धीरे रात ठण्डी होने लगती है। तब खौलते दिमाग़में रातकी शीतलताके साथ-साथ आछीकी तर और तीखी सुगन्ध धीरे-धीरे प्रवेश करने लगती है। हमारी चारपाइयाँ आँगनमें आकाश-गंगाके ठीक नीचे बिछी रहती हैं। एक फ़र्लांगकी दूरीपर आछीका पेड़ सुगन्धके झोंकेपर झोंके हमारी ओर भेजता है। यों, कहा जाता है कि हवाके रुख़पर आछीकी सुगन्ध आधे मील तक जाती है। फिर भी न जाने क्यों इस सुगन्धसे मन और प्राण तर नहीं होते। मनके अन्दर उठी प्राचीरें इस गन्धको आत्मा तक पहुँचने नहीं देती हैं। ये प्राचीरें भय और वंचनाकी हैं,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिन्हें अनजानमें ईंटपर ईंट रखकर मैंने खुद उठाया है। ये अड़कर खड़ी हो जाती हैं। आछीका पेड़ अकसर गन्दी या पुरानी जगहपर उगता है और अपना यह पड़ोसी भी प्रतिवाद नहीं। दूसरी बात यह कि बचपनसे ही सुनता आया हूँ कि यह प्रेत-बाधित वृक्ष है। आछीका फूल प्रायः देव-वर्जित है, क्योंकि प्रेतात्माओंका इसके प्रति अधिक लोभ रहता है। प्रायः आछीके पेड़पर कोई जिन्न या चुड़ैल सवार रहती है। यह सब सुननेके ही कारण प्रत्येक चाँदनी रातमें आछीके पेड़की यह ऊँटनुमा आकृति जानदार हो उठती है और इसकी सबसे ऊँची डालपर चुड़ैल सवार हो जाती है। उसकी उच्छिष्ट गन्धको नाक स्वीकार करती है, पर मनके प्राचीर झाड़ लेते हैं। यह गन्ध भयको और घनीभूत कर देती है। मेरे पंख-उगते मनका पोषण इसी भय और इसी सुगन्धके द्वारा हुआ है। गन्धका लोभ और भयकी ईहा अजीब उच्चाटनकी स्थितिमें डाल देते हैं। जीवनमें बड़े पैमानेपर इसी प्रकारके अनेक उच्चाटनोंको भोगता हुआ चल रहा हूँ। न तो गन्ध-लोभको ही मार सका हूँ और न भयको ही जीत सका हूँ।

सुन चुका हूँ, लोगोंने उसे बगुलेकी पाँख-जैसा धब-धब सफ़ेद वस्त्र पहने अस्पष्ट मुखाकृतिमें देखा है। प्रायः मुँह फेरकर खड़ी हुई, निश्चल स्थितिमें। कभी-कभी राग धरकर निचलाई रातमें वह गला फाड़कर रोती है, हवा तिलमिला उठती है, सारा वातावरण अंग-अंग मरोड़ने लगता है। यह उदास लीला-विभ्रम, यह करुणा, उसकी सेक्स-मृगयासे कहीं अधिक शक्तिशाली है और ईमानदार लोगोंको वह कई बार भटका चुकी है। उसकी सेक्स-मृगयाकी कहानियाँ बड़ी ही क्रूर हैं। ज़रा-सी कमज़ोरी देखी कि धर दबाया। देवकी लोहारकी जान ही लेकर छोड़ा।

यह भी सुना गया है कि वह इसकी सबसे ऊँची डालपर सवार होकर बाहर-बाहर भी घूमती है। पंचानन मिसिर बताते हैं : "भइया, अचानक डाल नीचे उतरी आसमानसे, और पेड़से जुड़ गयी। सारा पेड़ ही चरचरा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उठा। लगा, फटकर टुकड़े-टुकड़े हो जायेगा। साली नट्टिन है। कब कैसे आ गयी, पता नहीं!" इसके बाद मिसिर विस्तारपूर्वक बताते हैं कि किस प्रकार पूरबकी बारीका नटवा, पश्चिमका पिपरहवा और साँई-बारीका जिन्न, सभी इसके फेरमें हैं। ऐसा लगता है कि इस पुंश्चली नायिकाके प्रेत-प्रेमियोंका नर्मसखा या विट मिसिर ही हों। यह अतिभौतिक, सुपरनेचुरल, यौनाचारकी कथा सही हो या ग़लत, पर आछीके पेड़का, तारोंभरी घूसर रात या उजली चाँदनी रातमें बना, 'सिल्यूएट' (छाया-बिम्ब) और रात्रिके प्रथम प्रहरकी तेज-तर सुगन्ध, दोनों प्रेत-लांछित लगते हैं। इस रूप और गन्धका आस्वादन करनेमें इनके प्रेत-उच्छिष्ट होनेके कारण भय लगता है। हिम्मत नहीं होती कि इस रसका मुक्तमनसे भोग करें।

भादोंकी डायन रात। हाहा करता हुआ पवन। आवाज़का ज्वार-भाटा मेरे कमरेके वातायनोंपर टक्कर मारकर लौट जाता है। आवाज़का रंग नहीं होता है, पर यह शोर रंगीन है, काले अन्धकारके निर्गुण रंगमें रँगा हुआ। पवनके इस तीव्र स्वरको हम देख सकते हैं। कभी-कभी किसीके रूपको भी देखकर लगता है, हम उससे सुन रहे हैं, कोई भूली जन्मान्तरकी कथा। स्वरको हम देख सकते हैं, और रंगको सुन सकते हैं। इसमें रहस्यवाद-जैसी ऊटपटाँग कोई चीज़ नहीं। यह तो शुद्धतम प्रत्यक्षानुभूति है। यह भादोंको डायन रात है। मैं अपने कमरेमें समाया हुआ हूँ। बाहर घुप्प अन्धकार है। ऐसा लगता है, सारे अस्तित्व समाप्त हो गये हैं। शेष हैं, मेरा कमरा, जलती लालटेन, खिड़कियाँ, परदे और इस कोटरमें दुबका हुआ मैं। बाहर शेष सब कुछ यह सर्वभक्षी अन्धकार लील गया है। लगता है, अपनी धरती नहीं रही, अपना आसमान नहीं रहा, अपना वह काल-प्रवाह भी नहीं रहा, जिसमें जीनेका आदेश प्रभुने अस्त होनेके पूर्व दिया था। (ओह, प्रभु, तुम अस्त क्यों हो गये।) यह जो मेरे चारों ओर देश-कालके आयामोंके नामपर घेरे हुए है, वह मेरे अपने मृत-देशकालका प्रेत है। इन प्रेतोंके बीच मैं हूँ। अकेले मैं हूँ। अकेले, सर्वतन्त्र-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वतन्त्र, होना क्या ही गरिमाकी वस्तु है। क्या ही रुतबा मिला है। अब सब कुछ मैं ही हूँ—प्रभु तो अस्ताचलके उस पार चले गये। (ओह प्रभु, तुम अस्त क्यों हो गये ?) लगता है, मैं एक द्वीपमें हूँ। चारों ओर भय छाया हुआ है। लगता है, यह भय ही मेरे व्यक्तित्वको नया संस्कार देगा। सही है कि मैं ही अब एकमात्र प्रभु हूँ। पर यह बड़ाई, यह रुतबा, कितना व्यथापूर्ण है ! शान्तिपर्वके युधिष्ठिरकी कथासे भी बड़ी मेरी व्यथा है, क्योंकि मुझे पितामह और युधिष्ठिर दोनोंकी भूमिका निभानी है, और बिना किसी उदात्तताके, 'हिरोइज्म'के ! यह काली रात नहीं। यह निराकार भय ही सगुण हो उठा है। भय अपनी निर्गुण भावात्मक स्थितिको छोड़कर सृष्टि फलकपर सगुण हो उठा है—एक अमूर्त 'एब्स्ट्रैक्ट' शैलीमें। गहरे कोलतार रंगमें अभिव्यक्त अदृश्यका आकारहीन चित्र स्पष्ट हो उठा है।

डर लग रहा है। बहुत डर। (ओह, प्रभु तुम अस्त क्यों हो गये !) आँखें मूँदकर सोनेकी कोशिश करता हूँ। माया रूपधारी कामरूप पुरुषों और नारियोंके समूह। कोई फावड़ा चला रहा है। उसकी आँखें मेरी घड़ीकी तरह गोल हैं, जो अन्य दिशामें देख रही हैं और पुरुषके हाथ स्वयंचालित यन्त्रकी तरह ज़मीन काट रहे हैं। हजामत नहीं बनी है—पकहर, अधेड़, भावहीन चेहरा है। सहसा चित्र धुँधला होकर पता नहीं कब कट गया। एक पाकड़की जड़ें, ख़ूब ऐंठी हुईं। ऐंठनसे जड़ें सजीव हो उठी हैं, गोया बादामी रंगके ज़हरीले वीभत्स सरीसृपोंका एक थोक लग गया हो, कहींसे बहता-बहता आकरके। चारों ओर बजबजाती ज़मीन। कीचड़वाले किनारेपर गतिशील असंख्य नारियोंके झुण्ड, उनका मौन अवलोकन, उनके विविध रति-संकेत और फूहड़ लीला-विभ्रम। और नज़दीक, और नज़दीक—उनके कान्तिहीन मुख और बतीसी लगे गन्दे दाँत। छिः····हे प्रभु, इस बीभत्स कदली वन, इस भय और वंचनाके सिंहल द्वीपमें अकेले, पूरी गरिमाके साथ जीनेकी ज़िम्मेदारी मुझपर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

थोपकर खुद अस्ताचलमें धँस गये ?

नहीं, आँखें मूँदकर रहना मुश्किल है। उठकर खिड़कीसे झाँकता हूँ। बाहर बड़े ज़ोरसे बिजली कौंधती है। क्षण-भरके लिए आछीका पेड़ और आसपासका धरती और आकाश दिखाई पड़ जाता है। चलो, अपनेको छोड़कर किसी अन्यकी सजीव स्थितिका आभास तो मिला। प्रेत-आविष्ट पेड़ ही सही। कुछ भय घटता है। सारे भयके मूलमें शायद यही अकेलापन था। अब तो हम दो हैं। एक मैं और दूसरा वह पेड़। मेरा भाई, मेरा सखा पेड़। शेष जगत् तो जंृभककी चोट खाकर मृत है। शेष तो निराकार प्रेत बन चुका है। सगुण तो दो ही हैं, एक मैं और एक वह मेरा भाई, मेरा सखा पेड़। भले ही वह प्रेत-आविष्ट है, उसका गन्ध भोग करनेमें कुछ डर लगता है। परन्तु भयकी इस मूर्च्छनामें उसे देखकर तसल्ली तो हुई! अन्यथा मुझे लगा था कि प्रभु मुझे बिलकुल अकेला ही छोड़कर अस्ताचलमें गये हैं। सगुणताका बोध हमारे साहसके लिए कितना आवश्यक है! दरअसल सगुणता ही हमारे बोधकी शैली है। निर्गुणका तो आवेश होता है—प्रभाव होता है, बोध नहीं होता।

उकड़ूँ बैठ जाता हूँ। लालटेनके सामने मध्यम साइज़की एक किताब खुली है। एक अति परिचित किताबका अतिपरिचित पृष्ठ और जानी-पहचानी पंक्तियाँ। आँख और मन साथ-साथ पढ़ते हैं :

"धरती (उच्च स्वरसे)।"........बैबीलोनके धूलमें मिलनेके पूर्व

मेरा मृत शिशु, प्यारा शिशु जरथुस्त्र अपनी ही छायासे मिला, वाटिकामें। अपनी ही छायासे, आदमीकी रूहसे, उसकी भेंट हो गयी। क्योंकि, तुम जानो, जीवन और मृत्युके दो जगत् हैं। एक जो प्रत्यक्ष है, दूसरा है वह, जो क़ब्रके नीचे है, जहाँ रूपोंके बिम्ब, छाया-बिम्ब रहते हैं, सोचते हैं। और महान् मृत्यु दोनोंको मिला देती है, तब वे एक 'अविभक्त' बन जाते हैं।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बन्दी प्रमथ्युसे धरती माता कह रही हैं। परन्तु जरथुस्त्र, जरथुस्त्र, क्या यह सही है, दोस्त ? मैं सोचता हूँ, सही ही होगा ! आखिर धरती क्यों झूठ बोलेगी ? पर जरथुस्त्र, जरथुस्त्र····। ओह, तो सही है !

जरथुस्त्र, जरथुस्त्र। लगता है, मैं आविष्ट होता जा रहा हूँ। भादों-की डायन रात चाहे जो न करावे। एक छाया-शरीर मेरेसे विभक्त होकर धीरे-धीरे अलग होता है—गोया मेरे चमड़ेके अन्दर समकेन्द्रिक वृत्तों-जैसे ही प्याजके छिलकेकी तरह, दो शरीर थे। मैं स्वप्न नहीं देख रहा हूँ। मैं वेहोश नहीं हूँ। इस द्वितीय 'मैं' का चेहरा धीरे-धीरे स्पष्ट हो रहा है। केवल एक अधोवस्त्र पहने धुएँके रंगके पारदर्शक शरीरकी रूपरेखा-भर स्पष्ट हो रही है। अधिक नहीं। गोपी चन्दनका खड़ा टीका और हाथमें झाँझ गौड़ीय वैष्णवोंकी तरह। तो क्या मेरा छाया-शरीर वैष्णव है ? भादोंकी यह डायन रात और मेरे अन्तरका वैष्णव प्रेत। तो क्या यह आज 'वाउल गान' या विद्यापतिको सुनायेगा ?' "भरा वादर, माह भादर सून मन्दिर मोर।" पर क्या मुझे आज शून्य मन्दिर होनेका दुःख है ! आज यह दुःख नहीं है। आज कोई दुःख ही नहीं है। "किन-किनाकिन, किन-किनाकिन–किट्धा, किट्धा !····सून मन्दिर मोर ।" अरे भाई, आज दुःखका अनुभव करनेमें मैं बिलकुल असमर्थ हूँ। व्यर्थ है यह गान ! आजकी शून्यताका बोध यह वैष्णव प्रेत क्या करेगा। आज तो केवल भय है, केवल भय। मैं मनुष्य हूँ। मनुकी औलाद हूँ। मेरी अपनी एक गरिमा है। यदि मुझे दुःख मिलता तो यह मेरी गरिमाके उपयुक्त होता। कहनेके लिए तो मैं ही अकेले सब कुछका मालिक हूँ। पर मेरे पास है क्या ? केवल भयकी पूँजी है। छिः, भय कितनी हीन वस्तु है। यदि दुःख मिलता तो मेरा चरित्र ऊँचा उठ जाता—मेरा गौरव ऊपर उठता। सुखकी कामना कौन करता है ? सुखकी कामना जो करे, वही शूद्र है। हमें चाहिए दुःख। दुःख जितना ही बड़ा होगा, हमारी गरिमा भी उतनी ही बड़ी होगी। यदि समस्त संसारका दुःख मेरे ही माथेपर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गिरे तो धन्य भाग्य ! मैं दूसरे ही क्षण बोधिसत्त्व बन जाऊँगा । पर नहीं, आज तो कुछ मेरे पास है, वह तो रिक्ततासे भी बदतर है—भय और केवल भय ।

मैं सोच रहा हूँ । मेरा प्रेत निश्चय ही आज किसी अन्य व्यथाके बारेमें कहेगा । एक धीमी अ-स्पष्ट आवाज़ सुनाई पड़ती है । मैं बिना उसके चेहरेकी ओर ताके ही सुन रहा हूँ—"मेरा विश्वास है, उस छोटी-सी अग्नि-शिखामें, जो हमारे तुम्हारे बीच जलती है । तुम स्काटलैण्डमें और मैं मध्यदेशमें और मैं तुम्हारे शरीरको अपनी बाँहोंमें न घेर सकूँ, तो भी तुम्हारा एक अंश मेरे पास है । मेरी आत्मा तुम्हारे शरीरसे सटकर उसी अग्नि-शिखाकी ऊष्मामें अपने पंख फुलाती है । हम इस आगको सजीव सत्ता बन जाने तक प्यार करेंगे । ···· मैं इस प्यारकी पवित्रतामें विश्वास करने लगा हूँ । इससे एक स्थिर शान्तिका जन्म होता है, दो प्रज्वलित अग्नि-शिखाओंके बीच ठहरी हुई बर्फ़की छोटी शीतल बूँदकी तरह । जब हम मिलेंगे तो इन जलती शिखाओंको और तेज़ करेंगे ।" मैं कुछ रुककर सोचता हूँ, यह तो वैष्णव प्रेत नहीं है । मैं पूछता हूँ, तुम हो कौन ? यह क्या कह रहे हो ? धीमी आवाज़ आयी—मैं हूँ चण्डीदास । ये पंक्तियाँ मेरे उपन्यासका एक पात्र अपनी प्रेमिका लेडी चैटरलीसे बोल रहा है ।" चण्डीदास ! लेडी चैटरलीका प्रेमी ! डी० एच० लारेन्स, सहानुभूतियोंके शुद्धतम जीवनका पैगम्बर ! तो क्या सहज-यानका यह नया चेहरा है ? नहीं, यह अनादि चेहरा है–मेरा चेहरा है । मेरी भाषा है । यह भयकी भाषा नहीं है । पर बात साफ़-साफ़ समझमें नहीं आ रही है । मैंने देखा, प्रेत धीरे-धीरे हवामें घुल रहा है और मेरी ओर बढ़ता आ रहा है, उसी बैठी अवस्थामें । पारदर्शक शरीरकी 'आउट लाइन' भी धीरे-धीरे समाप्त हो जाती है ।

मुझे एक झटका-सा लगता है । मैं फिर अपने जगत्में लौट आता हूँ । वही कमरा, वही बाहर हवा और निराकार तम-तोम । पर लगता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है कि उस निराकार अन्धकारमें खड़े अपने वृक्ष सखाकी तरह मैं भी किसी-न-किसी रूपमें प्रेत-आविष्ट हूँ।

जरथुस्त्र, जरथुस्त्र, तो धरतीने ठीक कहा था ?

आज रात नींद नहीं आयेगी, ऐसा लगता है।

(प्रभु, तुम अकेले छोड़कर अस्त क्यों हो गये !) साढ़े तीन बजे यह डायन रात ज़हर खाकर बेहोश हो गयो और एक-एक करके प्रेत मरने लगे। मुझे नींद आ गयी।

सवेरा हुआ। बादल तो अभी थे, पर पूरबमें फाँक पड़ गयी थी। प्रभुका आगमन होनेवाला है। देखो, उनकी करुणा वातायनसे प्रवेश कर रही है। यह मसीहाके जन्मका क्षण है—इसलिए प्रेत हवा हो गये हैं। धरती सगुण-साकार हो उठी है, जो कल रात अनस्तित्वके तममें डूब गयी थी। अपना घर, नीमका पेड़, कनेर और गुलावकी झाड़ें, ये ढोरोंके झुण्ड, ये कौवे, ये आने-जानेवाले रास्तोंके लोग, जो कल अन्धकारकी निर्गुण सत्तामें लुप्त हो गये थे, फिर मिल गये। इनको देखकर मनमें विश्वास बँधता है। ऐसा लगता है, धरतीका महावाराहने आकर फिर उद्धार कर दिया है—"जलौघमग्ना सचराचरा धरा····" ओह उधर देखो, पूरबमें महावाराह प्रभुकी सवारी आ गयी है। लगता है, आकाशमें सतयुग उबर रहा है। मसीहाने जन्म ले लिया है। मैं वातायनके निकट खड़ा था। प्रभुने मुझे देखते ही हँसकर पूछा—"कैसे हो ?"

नन्दा खूँटेसे बँधी होनेके कारण रंभा रही थी। मैं नीचे उतरा। देखा तो काका हँसिया लाठी लेकर शायद चारा काटनेके लिए जा रहे हैं। काकाने अपने ही मनसे कहा, "ओह कलकी रात कैसी भयानक थी। रात-भर आँधी चलती रही। इस अन्धड़के आगे तो बँगाला देशकी काल वैशाखी भी मात खा जायें। वर्षा एक बूँद भी नहीं हुई। लगता था कि छत ही उड़ जायेगी।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"हाँ, हवा तेज़ थी। वह चुड़ैलवाला आछीका पेड़ रातको गिर पड़ा!" उधरसे दातून करते हुए पंचानन मिसिर निकले और ऐसा कहा।

मैंने मैदानकी ओर नज़र डाली। बात सही थी। लगा कि गाँवका एक जीवन्त 'कैरेक्टर' चला लगा। हम लोगोंके सही-ग़लत, सब कुछका तटस्थदर्शक। मैं सोच ही रहा था कि मेरा छोटा भतीजा, जो कक्षामें अँगरेज़ी और खड़ी बोली दोनों ही में कमज़ोर होनेकी वजहसे आजकल भोजपुरी भाषा—आन्दोलनका घोर समर्थक बन गया है, उधरको ओर निकला, यह कहते हुए—"आछीकी लकड़ी तो किसी कामकी होती नहीं। ला रहा हूँ सब्ज़ियोंकी लता चढ़ाने और इंधनके काम आयेगी।" पीछे-पीछे आरी और टाँगी लिये बदुरी तथा लूझा लोहार थे।

"प्रेत, आविष्ट काष्ठ हैं" पंचानन महाराजने सुझावके स्वरमें तुरत टीका की, "मन्दिरपर लकड़ी भेजवा दी, यजमानो।"

"चुप रहो, मिसिर, बिना बुलाये बीचमें मत कूदो।" उसने तड़पकर कहा। "हनुमान्‌जीका नाम ले लेंगे सब ठीक हो जायेगा," बदुरी लोहारने सहमति दी। और हमारे खानदानका वह भावी नेता, उस मृत वृक्ष-पुरुषकी ओर सीना तानकर लूझा और बदुरीकी सुसज्जित सेनाके साथ उत्साहपूर्वक चला गया।

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अवरुद्ध त्रेता : प्रतीक्षारत धनुष

परसाल नहीं, परियार सालकी वात है। हमारे गाँवके रामलीला मंचपर 'हनुमान् विलाप'का अभिनय हुआ था। हो सकता है कि तुलसीदास और कम्बनके उत्तरी-दक्षिणी पाठक यह सुनकर चौंकें। पर है यह तथ्य। वात यह हुई कि गाँवके इतिहासमें पंचायत-चुनावमें पहली वार अहीर सभापति बना था। तो प्रस्ताव आया कि रामलीलामें हर साल केवल भूमिहारोंके लड़के ही राम-लक्ष्मण और हनुमान्का पार्ट पाते हैं और अहीर-कोइरी आदिको राक्षसोंकी भूमिका ही मिलती है। यह अत्याचार बहुत दिन तक नहीं चलेगा। अव छोटी जातियोंके लड़के भी राम-लक्ष्मण और हनुमान् वनने चाहिए। नहीं तो 'सुराज'का अर्थ क्या है? इधर द्विजवर्गका तर्क था कि विजयदशमीके दिन राजा रामचन्द्रके किरीट-कुण्डलका दर्शन करते हुए दो आनेका बताशा चढ़ाकर अहीर-कोइरी या तेली-चमारके लड़कोंको प्रणाम कैसे किया जायेगा। अन्तमें भारतीय चिन्तनमें चिरपरिचित मध्यम मार्गपर समझौता हुआ कि विजयदशमीके दिन राम-लक्ष्मण-हनुमान् द्विजवर्णकी सन्तानें वनेंगी, पर शेष लीलाओंके दिन सभी बारी-बारीसे वन लेंगे। इसी निर्णयके अनुसार लंकादहनकी लीलाके दिन पदारथ कोइरीका बेटा बना हनुमान्जी। पर यह महत्त्वपूर्ण भूमिका परम्परासे महीधर काकाकी थी। उनके पूर्व उनके पूज्य पिता स्वर्गीय रामकंटक बाबा इसे करते थे। कहते हैं कि कुछ वर्ष पूर्व इस महत्त्वपूर्ण भूमिकाके लिए एक बार मेरे ही चौपालमें पिता-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुत्रके भीतर भयंकर हनुमान्-मकरध्वज युद्ध भी हुआ था और काकाने रामकंटक बाबासे ज़बर्दस्ती यह पद ले लिया था। इस पुश्तैनी गौरवके छिन जानेके दुःखसे पीड़ित महीधर काका मेघनाद बने हुए थे। झाल और ढोलककी आवाज़के ऊपर लहराती बलखाती 'व्यास'की बानी उठी—"अरे, हाँ ! ! !—चला इन्द्रजित अतुलित योधा ! ! बन्धु वध न सुनि उपजा क्रोधा ! !" दारुण भट अतुलित योद्धा इन्द्रजित चला ! पर इस बार वह बन्धु वध नहीं अधिकार हननसे क्षुब्ध था। प्रत्युत्तरमें हनुमान्जी-को विकट गर्जनका अभिनय और पैंतराबाज़ी करना चाहिए था। पर इधर तो हनुमान्को पसीना छूट रहा था। सुनता हूँ कि किसी भट्टलोल्लटने अपने नाट्यशास्त्रमें रसको अभिनेतागत माना है। सो सच्ची रसानुभूतिके आवेशमें काकाने तीन-चार वार कसकर यथार्थवादी गदा-प्रहार कर दिया, और बेचारे हनुमान्जी उच्चस्वरमें मंचपर ही रोने लगे। इस प्रकार 'हनुमान् विलाप'का महानाट्य सम्पन्न हुआ।

सुना जाता है कि इसी मंचपर कुछ वर्ष पूर्व 'परशुराम वस्त्रहरण'का भी अभिनय हुआ था। महेश तिवारी परशुरामजी बने थे। मंचके पीछे बजरंगी बारीने गाँजाकी चिलम थमा दी। अभिनयपूर्व इसे पीना फ़ायदे-मन्द और उचित समझकर दम लगा ही रहे थे कि आवाज़ें आयीं—"चलें, परशुरामजी", "कहाँ हैं भाई…" इत्यादि। झट बेचारे जल्दीमें धोती खोलकर, गैरिक परिधान किसी तरह लपेटकर, और परशुको कन्धेपर रखकर उछलते हुए मंचपर आये—"अरे दुष्ट जनक, बता तू, यह शिवधनुष…" इत्यादि कहते हुए परशु हवामें घुमाने लगे। फिर अभिनय खूब उच्च कोटिका हो जाये, इसलिए एक पैरपर खड़े होकर चारों ओर आवर्त्त ले ही रहे थे कि परिधानका एक छोर बाँसके एक फट्ठेमें फँस गया और आवर्त्तपूर्ण होनेके साथ-साथ वे दिगम्बर हो गये। पर तिवारी तो 'भावानुप्रवेश'में थे और अभिनय सटीक करनेके जोशमें संवाद बोलते जा रहे थे। एकाध मिनिट बाद 'होश'में आये तो देखा कि मंच खाली है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर जनता अति प्रफुल्लित नज़र आ रही है। इस प्रकार 'परशुराम चीरहरण' नाट्य सम्पन्न हुआ।

पुराणोंमें उत्तर भारतको ही त्रेता-द्वापर दोनोंका लीला-मंच माना गया है। पर तुलसीदासकी क़लमका कुछ ऐसा असर पड़ा कि उत्तर भारतमें त्रेतायुगकी उपासनापर ही अधिक बल है। गाँवोंमें नौजवानोंके इष्टदेवता अब भी हनुमानजी हैं, जो लड्डू, रोट आदि वीर रसकी कठोर मिठाइयोंके प्रेमी हैं। इसके प्रतिकूल पूर्वांचलमें द्वापरका विशेष ज़ोर है और वहाँ सुकोमल कान्त वपु रसगुल्ले चलते हैं, लगता है कि मुँहके भीतर पदावली साहित्यका 'ललित विरह' गलकर वह रहा है। उत्तर भारतमें अब भी 'बजरंगबलीकी जय'का घोष सुन पड़े तो लगता है कि वातावरण बदल गया। रोआँ खड़ा हो जाता है और भुजाएँ फड़कने लगती हैं। त्रेतायुग वीरगाथा युग है, भारतीय साहित्यका। हिन्दी साहित्यके वीरगाथा काव्यमें पराजयका आक्रोश है। पर इस भारतीय साहित्यके वीरगाथा-काव्यमें सनातन विजयका उद्घोष है। यह शुद्धतम वीररसका प्रतीक है, जिसमें कुछ भी हीन और अमानवीय नहीं है। इसके नायक हैं, 'अयोध्या'के वासी। अयोध्या दैवी शक्तियोंकी वह सनातन पुरी है, जिसे कोई भी पराजित नहीं कर पाता है। यह सनातनसे अपराजिता पुरी है। यह मन-मनमें निवास करनेवाली अनास्था और निराशासे जूझनेवाली अन्तश्चेतनाका प्रतीक है। इसीसे त्रेता भारतीय साहित्यमें शुद्धतम वीररसका प्रतीक है।

परन्तु अपने गाँवमें अभिनीत 'हनुमान विलाप' देखकर ऐसा लगा कि त्रेता गाँवमें जीवित अब भी है, पर उसके संचारी भाव बदल गये हैं, वह काफ़ी डालडा-मिश्रित हो गया है। अब उसका स्थायी भाव उत्साह न होकर खीझ हो गया है। संचारियोंमें धृति, मति, गर्व, वेग, उग्रता, क्रोध, स्मृति और रोमांच आदिमें केवल क्रोध ही बचा है। फलतः यह त्रेताका युग-सत्य कहीं 'हास', कहीं 'अद्भुत' और कहीं 'बीभत्स' बनकर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकट हो रहा है। शुद्ध रूपमें इसको पहचानना कठिन-सा हो गया है। गत पाकिस्तानी आक्रमणके अवसरपर अपने देशभक्त गाँवकी दीवारों-पर लिखित अयूबखाँको सम्बोधित कुछ भोजपुरी साहित्य पढ़नेका अवसर मिला। एक गाँवके प्रायमरी स्कूलकी दीवारपर एक अपूर्व चित्रांकन भी देखा, जो किसी किशोरके मनका रोष अभिव्यक्त करता था। चित्रमें एक कुरता धोती-टोपी पहने नाटे आदमीको लम्बे-चौड़े कोट-पैण्ट पहने आदमीके साथ एक अति कुत्सित मुद्रामें दिखाया गया था। इसमें तो सन्देह नहीं कि चित्रका विषय था देशभक्ति। लेकिन अभिव्यक्तिकी विधा उसे वीर रसकी श्रेणीमें न ले जाकर वीभत्स रसकी श्रेणीमें ले गयी थी।

परन्तु त्रेता हमारे अन्दर मरा नहीं है, जीवित है। यह कम सन्तोष-की बात नहीं। हमारे अन्दरका 'त्रेता-भाव' शक्तिका अतुल भण्डार है। योग्य नायक मिलनपर अन्धकारकी शक्तियोंका, गर्दभमुख असुरका, दशों दिशाओंमें व्यापक दशमुख रावणका संहार कर सकनेमें हम समर्थ हैं। कोई खीझ और कुत्साके स्थानपर उत्साह, धृति, मतिको स्थायी-संचारी बनानेका तरीक़ा सामने लावे, इसीकी आवश्यकता है। आवश्यकता है वशिष्ठ-जैसे पुरोधा-मन्त्रीकी, जो कह सके—"कहब वेदमत लोकमत नृपनय निगम निचोड़", जो वेदमत, लोकमत, राजनीति और अध्यात्मका चतु-र्मुखी सन्तुलन रख सके। आवश्यकता है विश्वामित्र-जैसी पारदर्शी ऋषि प्रतिभाकी, जो पहचान सके किसके अन्दर त्रेताका तेज जल रहा है।

त्रेता-भाव अपने शुद्धतम रूपमें अब भी हमारे अन्दर जीवित है। जब मैं अब्दुल हमीद और आशाराम त्यागीकी तस्वीर देखता हूँ—विभिन्न पत्रोंमें प्रकाशित युद्ध-सामग्री पढ़ता हूँ, तो लगता है कि इस वर्तमानका छद्म मुखौटा खिसककर नीचे आ गया है और त्रेताका उज्ज्वल गौरवर्ण, तेजदीप्त ललाट झलक जाता है, जिसपर वीरताका राज-त्रिपुण्ड चमचमा रहा है। यही नहीं, जहाँ कहीं भी आसपास मैं देखता हूँ कि मनुष्यकी आत्मा विनयको कायरताकी सीमा तक न ले जाकर तमककर कह रही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है : 'सौमित्र ला धनुष बाण। भय विनु होइ न प्रीति !' तो लगता है कि हृदयके अन्धकारमें त्रेताका पुरातन तेजस्वी जन्म ले रहा है और तब धनुष चढ़ाकर कहने ही वाला है—"निशिचर हीन करउँ महि....।" जब मैं यह 'ग्रामकथा' (दिनमान ३ दिसम्बर '६५) पढ़ता हूँ कि उत्तरी विहारके किसी ज़िलेके एक नये कथाकारको क़लममें रोशनाई भरनेके पूर्व रिवाल्वरमें गोलियाँ भरकर रखते हुए देखकर 'भूदान आन्दोलन' के एक विदेशी कार्यकर्त्ताने इसका कारण पूछा, तो उत्तर मिला—"मैं नये गाँवों-की कहानी लिखता हूँ, पर मैं 'तटस्थ' हूँ। मैं गाँवके परस्पर विरोधी गुटोंमें नहीं हूँ। इसीसे मेरी जान मारनेकी तीन वार कोशिशें की गयीं। मेरा एक भाई क़त्ल कर दिया गया है। मेरे एक सहायकके घर डकैती पड़ी है। फिर भी मैं आत्मसमर्पण नहीं करूँगा।"—तो, मुझे लगता है त्रेताके पुरातन तेजस्वीने फिरसे कोदण्ड फेरना शुरू कर दिया है।

आजसे कुछ वर्ष पूर्व रामेश्वरम् गया था। धनुषकोटिके तटपर ढलते दिनकी छायामें मैंने वरुणकी अभ्यर्थनामें नारियल, केले और फूल चढ़ाये, जिसे वरुणकी गरजती हाथियोंमें-से एकने लपककर ले लिया और आपस-में कन्दुकक्रीड़ा करके नारियलको फिर तटपर फेंक दिया ! हज़ार-हज़ार गरजती हाथियोंको देखकर तबीयत मचल उठी, उनसे कुश्ती लड़नेकी। परन्तु स्यारकी तरह हर एक उत्साहपूर्ण कार्यमें रास्ता काटनेवाले मेरे मित्रोंने मृत्युभयका भाव मुझमें ऐसा भरा कि केवल वरुणके भक्तकी तरह अनुशासित कागस्नान करके ही सन्तोष कर लिया। फिर भी मेरे मनमें निरालाकी 'रामकी शक्तिपूजा' की पंक्तियाँ गूँजती रहीं। यह असीम वरुणालय और इसे पार कर जानेका उत्साह आदिम साधनोंके द्वारा ! एक हतभाग्य युवक अपने दुगुने हतभाग्य भाईके साथ और वानर मित्रोंके साथ एक दिन इसी बालुका तटपर खड़ा रहा होगा। इस पार यक्षबन्धुकी स्वर्णपुरीमें पवित्रता क़ैद है यक्षराजके अपराजेय दुर्गमें, जो आसुरी शक्तियों-द्वारा रक्षित है। बीचमें यह सागर बाधा स्वरूप खड़ा है। पर वरुणके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन गरजते हुए हज़ार-हज़ार हाथियोंको क्षण-प्रति-क्षण ललकार सुनकर भी "वह रहा रामका एक हृदय, जो नहीं थका !" इस पंक्तिका अर्थ यदि इस वरुणालयके सिंह-द्वारपर उस दिन खड़ा न होता, तो इतना स्पष्ट न हुआ होता। वह रामका हृदय था, जिसने कभी भी पराजयको नहीं स्वीकार किया, कभी भी थका नहीं। मेरा मन चौदह वर्ष तक वन-वन भटकने-वाले अपने स्वामीके प्रति करुणासे नहीं, स्नेहसे भर आया, आँखें भीग गयीं और साथ ही लगा कि उत्साहसे छाती और चौड़ी होती जा रही है। उसी क्षण मुझे याद आया, कलकत्तेमें पन्द्रह रुपये प्रतिघण्टेके हिसाब-से तीन घण्टे सवेरे और पच्चीस रुपये प्रतिघण्टेके हिसाबसे दो घण्टे शाम-को ट्यूशन करके दिनमें सिटी कॉलेज़ ज्वाइन करनेवाला और प्रतिमास पैंतालीस रुपये अपने छोटे भाई और विधवा माँको भेजनेवाला बलिया ज़िलेका दरिद्र विद्यार्थी, जो अपने दुर्भाग्यरूपी रावणके मुँहपर तड़ाकसे तमाचा मारनेको उद्यत है और पी-एच० डी० का स्वप्न देख रहा है। जहाँ कहीं भी तेज है, दृढ़ता है, अपराजित हृदय है, पवित्रता और न्याय-की रक्षाके लिए बाँहें धनुष चढ़ा रही हैं, वहाँ-वहाँ मुझे शर-सन्धानके लिए उद्यत उदात्तशीर्ष त्रेताके दर्शन होते हैं, जिसके भव्य ललाटपर विधाताने अपनी तीन उँगलियाँ फेरकर अग्नि त्रिपुण्ड अंकित कर दिया है। यह त्रेता अपने उदात्त रूपमें भारतमें मरा नहीं है। यह अतीतका अंश होते हुए भी प्राणवान् है। अतीतके द्वारा इसपर कहीं-कहीं यदि काई-कर्दम चढ़ गयी हो, तो इसे धो-माँजकर चमकानेवाले चाहिए। विश्वामित्रोंकी आवश्यकता है, जो कर्दम और हाड़-माँसमें छिपी त्रेताकी अग्निको पहचान कर चुनें और संस्कार दें। वाल्मीकिकी आवश्यकता है, जो छन्द और उपयुक्त नायक दोनोंकी सृष्टि करे।

जो लोग खण्डकालकी शैलीमें सोचते हैं, उन्हें वर्तमान काल-बिन्दु यानी १९६६ ई० मात्र 'कलियुगे कलि प्रथमचरणे' है। परन्तु काल-चिन्तनकी एक दूसरी भी शैली है। सनातन काल या महाकालके 'पैटर्न'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में सोचनेपर प्रत्येक बिन्दुमें भूत, भविष्य और वर्तमान साथ-साथ संयुक्त रहते हैं—भूत, वर्तमानके अन्दर 'संस्कार' रूपमें रहता है और भविष्य, 'सम्भावना' के रूपमें। काल-चक्रकी गति दुहरी है : रेखागत और बिन्दुगत। रेखागत कालकी गति भूत, वर्तमान और भविष्यके खण्डोंमें विभाजित है। पर यह रेखा कई बिन्दुओंका संगठन मात्र है और प्रत्येक बिन्दुपर काल अखण्ड-सनातन रूपमें मौजूद है, खण्ड रूपमें नहीं। खण्ड-दृष्टि भ्रामक दृष्टि है। उसका आश्रय लेनेपर असन्तुलित अनागतके जन्म लेनेका डर है। खण्ड-दृष्टि ऊपरसे वैज्ञानिक दिखाई देनेपर भी समग्रको एक साथ सोचनेमें असमर्थ है। वैज्ञानिक चिन्तनपर आधारित क्रान्तियों-का फल तथ्यतः उनकी पराजय ही हुआ है। एक अत्याचारका अन्त करके दूसरे प्रकारके अत्याचारकी स्थापना हुई है। शोषण रह गया है। उसकी तकनीक बदल गयी है। अतः कालातीत समग्रताको दृष्टिमें रखकर ही अनागतका स्वागत किया जाये, तो अधिक अच्छा होगा।

मैंने सनातन कालको, वर्तमानमें निहित त्रेता-द्वापर और अनागत-को, किसी उपनिषद् या ईलियटके 'फोरक्वार्टेट्स'के माध्यमसे नहीं देखकर, आस-पासके जीवनके माध्यमसे देखा है। हाट-बाट, ट्राम-बस, दिल्ली-कलकत्ता, गाजीपुर-बनारसकी गलियोंमें मैंने विकृत त्रेता और शुद्ध त्रेता दोनोंको देखा है। द्वापर न केवल वृन्दावनमें बल्कि हर जगह है। अपने गाँवके शान्त गंगा तटपर झूमते ज्वार-बाजराके खेतोंमें, या मतवाली पीले फूलोंसे लदी हरि प्रिया (अरहर) के झाड़ोंपर बैठे वन-पाखियोंके गीतमुखर जोड़ोंमें द्वापरकी भाव-कथाको सगुण रूपमें अवतरित होते हुए मैंने देखा है। जब कभी वर्तमानका मुखौटा भूलसे सरक जाता है, तो त्रेताका तेजदीप्त त्रिपुण्ड्रधारी ललाट, द्वापरकी खमदार भौंहें और खंजन नयन तथा अनागतका सरल कुण्ठाहीन और ताज़ा नयी हँसीसे भरा हुआ कैशोर मुख झलक जाता है।

मैं अनागतका स्वप्न देख रहा हूँ। मतसा जोऊपुरके पट्ठे 'फर्री'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कूद रहे हैं, नाच रहे हैं। नगाड़ेपर महाकाव्य बज रहा है 'ढमर-ढमर, ढम-ढम, ढम-ढम !' साथमें चिनगारी-सी छनकती आवाज़में करताल है। 'बाजत ताल पखावज बीना।' बीना नहीं है तो कोई बात नहीं। बिना बीनाके ही त्रेता-युग साकार हो उठा है—ध्वनि और तालके सामंजस्यसे वाल्मीकि रामायण जन्म ले रही है। ध्वनिके रूपमें महाकाव्यका साकार जन्म ! बीच-बीचमें 'जय बजरंग !' 'वाहरे पट्ठा। छू ले आसमान !' सुनाई पड़ता है, तो लगता है वाल्मीकिके कन्धेपर सवारी कसे हुए साक्षात् निरालाजी दशों दिशाओंमें प्रकट हो रहे हैं; लगता है आसमान-में काल पुरुष गाँजेके नशेमें लाल धुत्त होकर सनातन कुमारिका, साथ ही सनातन प्रसविनी, धरती-वधूके प्रति एक रसपूर्ण 'जोगीड़ा' ललकार भरे स्वरमें बोल रहा है। सम्भवतः यह (नयी छवि) उसके कौमार्य भंगकी भूमिका है, जिससे उस अनागतका जन्म होगा, जिसके सभी बच्चे ब्राह्मण होंगे, जिसके सभी पट्ठे जवान होंगे या किसान होंगे, जिसके सभी बूढ़े ऋषि-मुनि होंगे, जिसके सभी घरोंमें खानेको भरपूर गेहूँ, चावल, ज्वार, बाजरा होगा, जिसके चक्रकी छायामें श्रम और ज्ञान एक दूसरेका वरण करेंगे, बाबू-संस्कृतिका नामोनिशान नहीं रहेगा, मुहम्मद-शाहके बादवाले मुग़लिया-कल्चरके सड़े सामन्तवादी आर्किड-जैसे जीवन तन्तु नेस्तनाबूद हो चुके होंगे और सभी लोग अपनी भाषा बोलेंगे।

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्पातीके बेटे

चित्रा चली गयी। स्वातिका आगमन हुआ। टहटही तेज़ धूप, सादे मेघ, नीला आसमान और दूर-दूर फैले ज्वार-बाजरेके पके हुए गद्यगन्धी खेत। नीचे पकी हुई धूसर और शस्य-पीत धरती और ऊपर प्राणोंका सखा तेजस्वी सूर्य। ऐसे मरदाने वातावरणमें चातक, 'पी कहाँ', रूमान और कविता कहाँसे आये? हाँ, मेरी खिड़कीके पास ही पुराना पीपलका पेड़ है जिसपर-से समय-कुसमय गृध्र-युग्मोंके काम-सीत्कारके घोर रव सुन पड़ते हैं। जहाँकी प्रकृतिके हिस्सेमें ज्वार-बाजरे और ईख-जैसे लाठीनुमा कवित्वहीन और गद्याकृति पौधे मिले हों वहाँकी किसी चीज़में बंगालकी माया कैसे प्रवेश करे! रोज़ इन्हीं गृध्र-युग्मोंका प्रणय देखनेको मिलता है। प्रणय-पूर्व गृध्र नायक दूर-दूरके दरख्तोंसे सूखी-अधसूखी टहनियाँ तोड़कर गृध्र-स्वामिनी प्रियाको सौंपता है और वह नीड़ रचती है। प्रणय और नीड़की माया दोनोंका वितान साथ-साथ तनता जाता है। काल पाकर अण्डे फूटते हैं। सघन पत्तोंके बीच गृध्र-शावक पलता है। शिशुके बड़े हो जानेपर गृहकी माया बिखर जाती है। मायाकी अर्गलाके एक बार टूटते ही शावक भी भूल जाता है और चिर कुमारिका गृध्र-स्वामिनी फिरसे उर्वशी बन जाती है। पत्नी नहीं, माता नहीं, सनातन प्रिया। फिर वही मुक्त विहार। घर जोड़नेकी मायाका क्षणिक आवेश समाप्त हो जाता है। सहजानुभूतियों और संवेगोंपर आधारित यह माया-युक्त जीवन निरन्तर इसी प्रकार चलता रहता है, जिसे मनुष्यने बुद्धिके आदेशसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शृंखलाबद्ध कर दिया है, क्योंकि मनुष्य आखिर मनुष्य है। वह गृध्र नहीं, चील-कौवा नहीं, कबूतर नहीं। यों, जब कभी डी० एच्० लारेन्स-की तसवीर देखता हूँ तो गृध्र पुरुषकी छवि मनमें उभर आती है। वैसे ही लम्बी गरदन, दाढ़ीवाला ऊबड़-खावड़ मुखमण्डल और ठण्डी, गहरी दृष्टि ! जब मनमें गहरा अन्धकार छा जाता है, और कुछ दिखाई नहीं पड़ता, सिवा अन्धकारयुक्त एक प्रगाढ़ नशेके और कुछकी अनुभूति करनेमें हम समर्थ नहीं रह जाते, तो उन क्षणोंमें ही लारेन्स-द्वारा प्रख्यात 'सहज वृत्तियों'की 'विशुद्ध अनुभूति' होती है। परन्तु यह एक विशेष आवेश और विशेष अवस्था है। समस्त जीवनका दर्शन होनेका सामर्थ्य इसमें नहीं। हाँ, कभी-कभी कोटरबद्ध मनके अन्दरका अनजिया व्यक्तित्व गरज-गरजकर इसकी माँग करता रहता है। लेकिन जीवित व्यक्तित्वकी ही माँगोंका विस्तार एवं दायित्व-उपलब्धिका लेखा-जोखा इतना कठिन और उलझा हुआ है कि अनजियेकी ओर ताकनेकी फ़ुरसत कहाँ ? ताकने-देखनेके लिए इस कामरूपिणी अनन्तवर्णीकी, सतरंगी धरती वधूकी विभ्रम-चेष्टाएँ और वयःसन्धि क्या कम हैं, कि अनजियेको, अप्राकृतिककी, आदिम-की अपेक्षा करें, मिनती करें, सूअर काटें और खून पिलायें, जिससे ये दैत्यशिशु प्रसन्न हों और हम धन्य-धन्य हो जायें ? इस खुले आकाशके नीचे सोने-सी चमचमाती और बरसती हुई क्वार-कातिककी धूप, ज्वार-बाजरेके पट्ठ-पर-पट्ठ खड़े खेतोंकी सेना और बीचसे अपना बाग़; अथवा शरद्की बरसती चाँदनी, आकाश और धरतीकी बातचीत,—ऐसे परि-वेशोंमें बाहर निकलता हूँ तो मैं पेड़ों, पौधों, मस्त हवाओं और सुनहली किरणें-जैसी प्रेमिकाओंके बीच मनको मुक्त भावसे बाँटने लगता हूँ। तब लगता है कि लारेन्स झूठा था, फ़्रॉयड कपटी था। प्रकृतिकी मुक्त और अनन्त छविको सम्मुख पाकर मनके रसबोधका दायरा इतना विस्तृत हो जाता है कि 'जिस्म'का वह आकर्षण जो बद्ध सीमित शयनकक्षके अन्दर 'बद्ध' मनको रेशमी माया बुनकर बाँधता है, इस महिमामें विलीन हो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लापता हो जाता है। कृष्णने राधाके साथ जिस महाभावकी साधना की, जिस काम-गन्धहीन रसबोधकी उपासना की उसका श्रेय यमुनातट, करील और कदम्बकी हरींतिमा तथा शरद्-पूर्णिमाको है। वे द्वारिकाके शयन-कक्षमें क्यों नहीं महाभाव पा गये ?

गृध्र शाक्त पक्षी है। समरभूमिमें नर्तन करनेवाली योगिनियों-डाकिनियोंका लीला-शुक है। श्मशान-भूमिके क्रीड़ा-शिशु वैतालोंका साथी है। इसका भाव-सम्बन्ध जरा और मृत्युके साथ है। लम्बी गरदन, वृद्ध मुखाकृति, कुटिल-क्रूर बूढ़ों-जैसी आँखें, मृत मांस-भक्षण (बाज़ और गरुड़की तरह शिकार करके तेजस्वी जीवन बितानेवाला यह नहीं है) और बीभत्स जीवनवाला यह पक्षी जरा और मृत्युका प्रतीक न होगा तो क्या प्रेम-शृंगार और वीरताका प्रतीक होगा ? इसको देखकर तो पता ही नहीं चलता कि इसके अन्दर भी बचपन और जवानी आते हैं, काश्मीर और बंगाल इसके मनमें भी लहलहाता है, वासन्ती हवाओंका स्पर्श इसे भी व्यथित करता है, कामके तीर इसे भी सहने पड़ते हैं। यदि यहाँ बैठे-बैठे दिनमें तीन बार इनकी काम-सीत्कार नहीं सुनता तो कल्पना ही नहीं होती कि इनके दिलमें भी एक वृन्दावन उगा है और रसकी अवस्थाएँ पूर्वराग, अभिसार, संकीर्ण रति, रति, मान-मनुहार इसको भी वैसे ही मिली हैं जैसे औरोंको। दरअसल रसको विधाताने मुक्तहस्त होकर सबको बाँटा है। यह विधाता भी अजीब फक्कड़ हैं। रस सबको बाँट दिया, रुदन सबको बाँट दिया। मनुष्य रहता तो मुँहदेखी करता, भाव चढ़ा देता, काला बाज़ार चला देता, रातों-रात रसके पीपे और रुदनकी बोरियाँ ग़ायब करा देता और शायद दिल्लीमें भी रस और रुदनकी वह सस्ती नहीं होती जो आज है। लेकिन विधाता ऐसा क्यों करे ? उसे कौन-सा मुनाफ़ा कमाना है ? वह तो कवि है ! कविको अपनी प्रत्येक कृतिमें अपना ही प्राण-रस जलाना पड़ता है चाहे वह रावण-इयागों हों या राम-हैमलेट हों। सबके अन्दर उसीका प्राण पिघलकर संचारित हो रहा है। इसीसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह विधाता मदन-सखा रसालको ही मंजरी-भूषित नहीं करता, बल्कि बबूलको भी अपना प्यार और आशीर्वाद उसी भाँति देता है। एक बार हल्दी सबपर चढ़ती है। बबूल-जैसे कण्टकमय भाग्यहीन वृक्षपर जब चटख-पीले ख़ूबसूरत फूल गहगहाकर छा जाते हैं तो लगता है कि तारोंकी बारात सज गयी है, सारा वसन्त इसी बेवक़ूफ़पर उतर आया है।

यहाँपर अपने एक बंगाली अन्तरंग मित्रकी याद आ जाती है, जो आधुनिक चित्रकलाका अभ्यास कर रहे हैं। ये अपनी सहनमें जहाँ कभी फूलगोभी और गुलाबकी पाँतें खड़ी थीं बबूलके बाग़ लगाये हैं, आधुनिक भावबोधकी प्रेरणा पानेके लिए वसन्तागमके समय पीले-पीले फूलोंसे अपने कमरेकी सजावट करते हैं। फलतः कमरेमें इधर-उधर काँटे फैले रहते हैं जो समय-असमय पत्नीकी उँगलियोंमें, मेज़ साफ़ करते समय या कमरा बुहारते समय, गड़ जाते हैं। उस समय जो अमृत-वर्षा प्रारम्भ होती है उसमें बँगला भाषाकी सहज बौछारका कमाल सुनते ही बनता है। संयोगवश जब कभी ऐसे अवसरोंपर उधरसे निकलता हूँ तो इस सुनहले मौक़ेको हाथसे जाने नहीं देता और किसी-न-किसी बहाने पन्द्रह-बीस मिनिट ठहरकर इसी जीवनमें स्वर्ग-सुख लूटता हूँ। कभी-कभी 'दादा' को अति संकटमें पड़ा देखकर कह उठता हूँ: 'बउदि, दादार 'टेस्ट' ख़ूब भालो आरु परिष्कार! देखिए न यह रात-भर उसी रूमानी ढंगसे झरता है जैसे मौलश्री अथवा शेफ़ाली।' 'भाभी' तुरत चमककर उत्तर देती हैं, 'छाई आसे!' कभी-कभी 'दादा' श्रीमतीको क़ायल करनेके लिए गुरुदेवके किसी भतीजेका उदाहरण देते हैं (जो पता नहीं कितना सत्य है!), जिसने गुरुदेवके रूमानी काव्य-बोधके विरुद्ध ढाका-दलके बुद्धदेव वसु, जीवनानन्द दास आदिके प्रभावमें आकर एक उल्लू पालना शुरू कर दिया था। गुरुदेवको पता चला तो बुलाकर एक दिन, डाँटा, 'सुन रे,···,हमारे घरमें दो उल्लू साथ-साथ नहीं रह सकते! पर विद्रोही आत्माकी पुकार एवं आधुनिकका आग्रह दब नहीं पाये। बंगालकी 'नयी कविता' और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'क्षुब्ध' युवकों और 'क्षुधित' युवा चित्रकारोंका दल इस बातका साक्षी है कि गुरुदेव साहित्यिक समर हार गये और मैदान 'नये' लोगोंके हाथमें रहा ! फिरभी 'बउदि' (भाभी) इस तर्ककी क़ायल नहीं होतीं। गुरुदेवके नामका जादू भी व्यर्थ हो जाता है।

तुलसीदासने गृध्रोंकी अपार दृष्टि और दूरदर्शिताका उल्लेख करके उनकी इज्ज़त बहुत-कुछ बचा ली है : 'गीधहिं दृष्टि अपार।' मनुष्य-समाजमें भी दूरदर्शिता और दृष्टिकी विशालता वृद्धताके साथ जुड़ी है। वृद्ध ही दूरदर्शी होते हैं; नौजवानको तो हरा-हरा ही सूझता है : ऐसा प्रचार वृद्धोंके द्वारा कर दिया गया है। अकसर वे अपने मुँहसे ही ऐसी हाँकते हैं, भले ही नयी पीढ़ी उनके इस आग्रहको कौड़ीका तीन माने, आमूल परिवर्तनकी चर्चा करे, नया साहित्य पढ़े और नयी कविता लिखे। 'वृद्ध' और 'गृध्र' का ध्वनिसाम्य भी उनके इस आग्रहका पोषक है। ऐसा लगता है कि प्राचीन कालमें जब शायद वैदिक संस्कृतिका ज़माना था, वृद्धोंने मिल-जुलकर किसी पुरातन डॉ० रघुवीरसे अपने लिए ऐसा सुन्दर शब्द गढ़वा लिया। ख़ैर। बात तो यहाँ गृध्रोंकी हो रही है। उनकी 'अपार दृष्टि' के उल्लेखका सम्बन्ध सम्पातीसे है जो इस महाकुलका पुराणपुरुष है। जटायु और सम्पाती दोनों भाई आकाश मापने और सूर्य-को छूनेका साहस करके उड़े। आसमानकी परतपर परत फाड़कर पूरी आस्थाके साथ उड़ते गये, पर आगे चलकर एक ऐसा बिन्दु आया जहाँ निरावरण तेज असह्य हो उठा। जटायु तो लौट आया। तेजको निरावरण देखनेकी लालसासे सम्पाती आगे बढ़ा। पर निरावरण तेज, निरावरण नग्न सत्य और निरावरण सौन्दर्यको सभी कोई बरदाश्त नहीं कर सकते। इनके सम्मुख पड़ जानेपर सभी कोई अपनी संज्ञा और सुध-बुधको सन्तुलित नहीं रख पाते। सम्पातीका अहं उसे तेज और सौन्दर्यको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आवरणहीन नग्न रूपमें स्पर्श करनेके लिए प्रेरित करता है। फलतः उसके पंख भस्म हो जाते हैं और वह धरतीपर गिर पड़ता है। मूसाको निरावरण तेजका दर्शन हुआ था, पर वह भी एक हरी झाड़ीके पीछे और केवल एक क्षणके लिए। दूसरे ही क्षण मूसाकी आँखें बन्द हो गयीं और जब वे लौटे तो उनके चेहरेपर वृद्धता आ गयी थी और काले बाल सफ़ेद हो चुके थे। महाकवि निरालाके निधनपर एक अग्रजन्मे स्वरने कहा था : 'वे पंखहीन सम्पातीकी तरह अपनी यूटोपियाकी पराजय देखते हुए मरे।' हर एक साहित्यकार थोड़ा-बहुत सम्पाती होता है और प्रायः सभी तथ्योंकी प्रखर ज्वालामें अपनी यूटोपियाके पंखोंको झुलसा हुआ पाते हैं। सलीबपर झूलता हुआ मसीहा स्वतः एक बहुत बड़ा सम्पाती था। पर पैग़म्बर या साहित्यकार ऐसे सम्पाती हैं जो पंखोंके जल जानेपर भी हार नहीं मानते; पछताते नहीं। चारों ओर पराजय है; निराशा है; रिक्तता है; दुर्गन्ध है। फिर भी कोई पश्चात्ताप नहीं। संघर्षका रथ आगे बढ़ेगा। यदि पथ नहीं मिलता तो अपने इस एकाकी अकेले रथकी लीक ही पथ है। कोई चिन्ता नहीं, कोई परवाह नहीं। भविष्यके अजन्मे मनुके लिए सर्वस्व समर्पण।

दूसरे वे हैं जो जटायुकी तरह निरावरण सत्यकी खोजमें चलते तो हैं, तेजके स्पर्शकी इच्छा तो है, पर वे चुनौती स्वीकार करके सूर्य तक जानेका साहस नहीं कर पाते। पैग़म्बरोंका जोगिया बाना उन्हें आकृष्ट नहीं करता। मन्त्रद्रष्टा बननेकी, हिन्द महासागरको पी जानेकी या नयी सृष्टि रचाकर देवताओंसे प्रतिद्वन्द्विता करनेकी चाह उनमें नहीं। उनका उद्देश्य जीवनमें सीधे-सादे कुछ आदर्शोंमें विश्वास-भर होता है और वे सहज शान्तिप्रिय जीवन बिना किसी ध्वजा-पताकाके ही बिताना चाहते हैं। वे अति लघु हैं। उन्हें वामन बनकर रहना ही आता है। पर जब इतिहासकी गति रुकने-रुकनेको हो जाती है, जीवन कोई बड़ा 'चुनौती' फेंकता है और आदर्श जब उनके सामने भिक्षा-पात्र लेकर खड़ा हो जाता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं, तो अचानक उनमें हिमालय-जैसा पौरुष आ जाता है और उस हालत-में वे किसी भी रावणसे टक्कर ले बैठते हैं। उस समय उनका मामूलीपन हवा हो जाता है। ऐसा अकसर देखा गया है कि संक्रमणके क्षणोंमें महत्त्वाकांक्षा और महत्त्व दोनोंसे हीन साधारण वामन भी अपने अन्तरके तेजको पहचान कर ललकार उठता है और विराट् बन जाता है। पर सम्पाती ऐसे नहीं होते हैं। ये सम्पाती सदैव पैग़म्बर बननेकी चेष्टा करते हैं; सदैव नयी लीक खोजते हैं; पंख जलाते हैं। लीक नहीं बन पाती, अन्तरिक्षकी मापका स्वप्न अधूरा रह जाता है। फिर भी सम्पाती लघुता और क्षुद्रताकी सीमासे अपनेको आबद्ध नहीं मानता। पंगु और शक्तिहीन होकर भी उसकी दृष्टि अभी बची है। इस दृष्टिका संकेत सत्यके, आदर्शके, जीवनकी महिमाके अन्वेषियोंको वह देता रहता है। उसके पास शक्ति नहीं कि वह हनुमानको पीठपर लादकर सागर पार करा दे। पर वह दिशा-निर्देश कर देता है। वर्तमानका इतिहासकार क़लमपर क़लम मारता जाता है, पंक्तिपर पंक्ति जुड़ती जाती है पर इन सम्पातियोंपर वह दृष्टिपात भी नहीं करता। उसकी काली स्याहीका राजतिलक इन पंगु सम्पातियोंको नहीं मिलता है। पर ये कितने आवश्यक हैं, इसे इतिहास-विधाता ख़ूब जानता है।

प्रति सन्ध्या इन पीपल और आमकी डालोंपर बलाकाओंपर बलाकाएँ उतरती हैं। जिस डालपर हरे-हरे सुग्गोंका झुण्ड अभी बेतहाशा नीचे उतरकर हरीतिमामें अन्तर्धान हो गया है उसीपर सफ़ेद बगुलोंकी क़तारें उतर रही हैं। बग़लमें ही कहीं कौवे हैं तो कहीं ढेंकी, पेंचें और जंगली कबूतरोंकी पंक्तियाँ। सबके सब इस गृध्र-परिवारके अगल-बग़ल डेरा डाल चुके हैं। सिर्फ़ रैन-बसेराका ही तो सवाल है, कल फिर अपने-अपने कामपर! हरीतिमाके जालमें सभी छिप गये हैं। पर स्वरों-द्वारा पहचाने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जा सकते हैं—पूरा पेड़ एक आर्केस्ट्रा बन गया है। ये द्विजन्मे पाखी मनुष्यसे अधिक सभ्य लगते हैं। ये विविधता और सहअस्तित्वको बरदाश्त तो करते हैं। कितने रंग, कितनी छायाएँ, कितनी सज्जाएँ, कितने बाने, कितने नृत्य, कितने गान, कितना हर्ष और कितनी विचित्रता! मनुष्यकी तुलनामें रोते भी बहुत कम हैं। प्रायः नहीं ही रोते। और यदि कोई रोता है, तो इतिहास बन जाता है; नये छन्दका जन्म हो जाता है; कवि उत्पन्न हो जाता है। नहीं तो हर्ष, केवल हर्ष! शोक और मोहके परे नृत्य और गान। हरे, नीले, पीले, रुपहले और स्वर्णिम गीतोंकी बलाका नील आसमानके हृदयको रँगती रहती है। ये रंग दृष्टिवालोंको दिखाई देते हैं, पर सुनाई तो सभीको पड़ते हैं, हमको, तुमको, उसको, और 'उसको भी जो बछड़ेको नहला रहा है।' इनके हाव, इनके भाव इनकी हेलाके सामने चिदम्बरम्के भित्ति-उत्कीर्ण मुद्रा-चित्र झख मारते हैं, गौड़ीय वैष्णव रस-सिद्धान्त और भरत मुनि अधूरे ज्ञात होते हैं। ये कभी केवल रंग ही रंग और कुछ नहीं; तो कभी केवल ध्वनि हैं, रंग-रूपका लोप हो गया है। ध्वनियाँ, केवल ध्वनियाँ निराकार शब्दहीन, भाषाहीन, अर्थोंके मामूली वचकाने घेरेसे बाहरकी ध्वनियाँ। 'शुद्ध' अतियथार्थवादी कला। केवल संकेत, पर कोई विशिष्ट सीमित अर्थ नहीं। इतनी सारी त्रिविधताके बावजूद इनका सहअस्तित्व बड़े मजेमें चल जाता है। कहीं कोकिल और बुलबुल है तो कहीं कौवा और गृध्र! फिर भी ध्वनि-गुम्फ (सिम्फॅनी) बिगड़ती नहीं इनमें कोई नहीं कहता 'अबे चुप! क्या सवेरे ही सवेरे ......'

मनुष्य भी बड़ा अजीब है। विशेषतः यह नया मनु। वह मनसे वैविध्य बरदाश्त नहीं करता है। ऊपरसे तो बाण्डुंग सम्मेलन कराता है; जेनेवा और लेकसक्सेसमें तीर्थ बाँधता है, विज्ञप्तियाँ प्रकाशित करता है और नये-नये शब्द, 'सहअस्तित्व', 'पंचशील', 'सर्वोदय, 'साम्यवाद' आदि-आदि गढ़ता है। पर उसका अन्तराल कुछ ऐसा है अथवा ऐसा हो गया है कि वह वैविध्यको बरदाश्त कर नहीं पाता। उसकी आत्मा अपनी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अस्मिताके आग्रहसे ऐसी पीड़ित है कि वह समानान्तर अस्मिताका अस्तित्व बरदाश्त नहीं कर पाता। वह सम्पूर्णका अकेले भोग करना चाहता है, दूसरी अस्मिताओंसे संयुक्त करके पारस्परिक भोग नहीं। और तो और, बेचारेका प्यार भी इस रोगसे मुक्त नहीं। कहनेको तो इसी प्यारके पीछे वह संन्यास ले लेता है, कौपीन बाँधता है, रोमियो-जूलियट बनता है, जहर-माहुर खाता है। पर एक दूसरेको 'पारस्परिक प्रदान' एक आदर्श-भर रहता है। वह यथार्थमें 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'से जिसे सर्गके प्रथम चरणमें ही उपनिषद्कारने अनुभूत किया था, आगे नहीं जाता। एक-दूसरेको मुष्टिगत रूपमें रखना, एक-दूसरेको अधिकृत रखना, इसीकी परिष्कृत विधाका नाम है प्यार। वैदिक और यूनानी क्लासिकल युगमें यही विधा थी। बादमें मध्य युगमें पारस्परिकताका आदर्श स्थापित हुआ सही, पर व्यवहारमें एक-दूसरेकी आत्माको काटकर अपने गलेकी शोभा बनानेका प्रयत्न ही वास्तविक स्थिति रही। आधुनिक मनुको शॉ और लारेन्स-जैसे गुरु मिले हैं। आज तो प्रत्येक प्रेमिका चण्डिका है और प्रत्येक प्रेमी अघोर शिव। ये एक-दूसरेका मुण्ड काटनेके लिए एक दूसरेके व्यक्तित्वको 'अधिकृत' करनेके लिए ही, खुले-आम लालायित हैं। यहाँ अर्धनारीश्वर नहीं। मानुषी प्यार तो चाहे वह कुमारी कंकावती मुखर्जी और सहगल साहबका हो अथवा रामभरोसे और रामनिहोर-बो भौजीका हो, सभी अघोर भैरव और चण्डी भैरवीका आपसी संघर्ष हैं। कल्पनाके जगत्में अर्धनारीश्वर है, जयदेव हैं, सूरदास हैं और पारस्परिक समर्पण है। असलियत है मृगया, मृगशावक और शरासन-स्थित बाण! क्योंकि मनुष्यकी आदत ही नहीं कि वह किसी भी तरहका—चाहे वह भाव-जगत् हो, अर्थ-जगत् हो या राजनीति हो, सहअस्तित्व बरदाश्त करे। यही तथ्य है।

पर यह भी सही है कि मनुष्य केवल 'तथ्य' ही नहीं है। मनुष्यके सम्पूर्णका केवल एक भाग ही 'तथ्य' पर जाकर समाप्त है। उसका शेष

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथ्यसे आगे जाता है। तथ्योंसे भी परे एक अनचीन्हा-अनजाना जगत् है जिसकी मस्ती, जिसकी हवाके, नशेमें आकर वह मुण्ड मुँड़ाता है, मेखला तोड़ता है, कौपीन बाँधता है, अन्धकारमें डुबकी लगाता है। और दूर-दूरकी खाक छानता है। तथ्योंकी पहचानी ठोस भूमिके परे भी एक ऐसी भूमि है जिसकी गन्धसे पागल होकर वह हृदयमें दीपक प्रतिष्ठित करता है, अपना रक्त जलाता है और उसके प्रकाशमें किसीको छविका आभास पाकर धन्य-धन्य हो उठता है, चाहे वह छबि किसी लड़कीकी हो या श्रीकृष्णकी! बात एक ही है। पारस्परिक समर्पण ही नहीं सहअस्तित्वके अन्य क्षेत्रोंमें भी अपने उच्छृंखल अस्मिता-भोगपर वह नियन्त्रण रखनेकी चेष्टामें सदैव लीन रहता है। जोर-ज़बर्दस्ती ही सही, पर वह सहअस्तित्वका मूल्य पहचानता है। इसी सहअस्तित्वके लिए वह लाख उपाय रचता है। गृह जोड़ता है, कचहरी-थाना बनाता है, विधान-सभा लोक-सभा बैठाता है, चर्चों और चैत्योंकी स्थापना करता है, अग्नि-की वेदी बांधता है। वह क्या-क्या नहीं करता जिससे किसी तरह भी, घिसटते हुए ही सही, सहअस्तित्व चल जाये और क, ख, ग एक साथ रह सकें। वह राजा, नियामक, मिल-मालिक और 'अध्यक्ष' चुनता है, 'बोर्ड' संगठित करता है, 'कोड' पास करवाता है। वह अपने ही लिए नयी-नयी बेड़ियाँ गढ़ता चलता है और उसका सारा जीवन भिन्न 'काण्ट्रैक्टों'की भुगतान करते ही बीत जाता है। आज हम अपने पिताको, अपने सन्तको, अपने कविको गालियाँ देते हैं कि वे तो मर गये पर हमारे लिए ये 'काण्ट्रैक्ट' और ये बेड़ियाँ छोड़ गये। पर वे पिता, वे सन्त और वे कवि लाचार थे। उन्होंने अपने लिए और अपनी सन्ततियोंके लिए बेड़ियाँ इसी सहअस्तित्वके लिए गढ़ीं। हम भी जब इन बेड़ियोंको तोड़ फेंकेंगे तो सिर्फ़ इसीलिए कि हमें नयी-नयी बेड़ियाँ चाहिए। यह और बात है कि वे नयी होंगी इसीलिए खूबसूरत लगेंगी और हमारे पैरोंमें नये स्वरोंसे झनझनायेंगी।

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चण्डी-थान

क़रीब दस वर्षों बाद चण्डी-थान फिर देखनेका अवसर इस बार मिला। ग्रीष्मकी ढलती दोपहरी। वेला लटक गयी थी। मैंने शिव-प्रिया चण्डिका-के चैत्यपर, स्वभाववश, शीश नवाया। माथेपर भभूत मली। फिर पासके वट-वृक्षके नीचे पड़े एकाकी शिवको प्रणाम किया और बैठ गया। अपनी महायोगिनी प्रियाकी काम-चितवनकी आशामें बैठे इस 'चीरवासा' भैरव-के शीशपर एक अबोध मैना बैठी हुई थी। मुझे देखकर वह विग्रहकी गोदमें उतर आयी। बस इतना ही परिवर्तन हुआ। बरगदपर कुछ कौवे और कबूतर भी थे। सभी दुपहरिया काटनेके फेरमें थे। अटूट और धीर एकान्त। तप्त उच्छृंखल लूके झोंके बाहर-बाहर उत्पात कर रहे थे। पर चैत्यकी पुरानी टूटी चहारदीवारीके भीतरका वायुमण्डल ध्यान-योगमें लीन था। यहाँतक कि मेरा सहज तमोगुणी मन भी इससे प्रभावित हो गया!

यह चण्डी-थान आस-पासके बावन वत्सगोत्री ग्रामोंका कुल-पीठ है। इस क्षेत्रके जड़-चेतनपर इस देवीका शासन है। यहाँका आसमान, यहाँका हवा-पानी और यहाँके पावस-मेघ, सभी इसके अधीन माने जाते हैं। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, सूखा-अकाल, अष्टग्रही, गंगाकी उन्मत्त क्रुद्ध वन्या सभीको डाँटनेके लिए, माताओं-द्वारा तेजस्वी प्रजा उत्पन्न करनेके लिए, हमारे पापोंके बावजूद इस क्षमाशील धरतीसे गेहूँ-जौ और ज्वार-बाजरा-जैसे शक्तिशाली शस्य पैदा करवानेके लिए, संक्षेपमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रत्येक मंगल-कामनाके लिए यहाँके निवासी इसीके पास नालिश-फ़ारियाद करते हैं। इससे सस्ता और सुलभ दरबार उन्हें कहाँ मिलेगा ! गत पाकिस्तानी आक्रमणके अवसरपर भी इसे जगाया गया। इससे पता चलता है कि विश्व-राजनीतिमें भी यह दखल देने लगी है। घर-घर कथा प्रचलित है कि जब शालिवाहनने इस 'बावन'-क्षेत्रपर आक्रमण किया था तो इस भैरवीने सुरसाकी तरह मुँह फैलाकर सारे क्षितिजको ढँक लिया और अत्याचारी जान लेकर भागा। पता नहीं यह शालिवाहन है कौन ? इस देशमें भोजों, विक्रमादित्यों और शालिवाहनोंकी एक फ़ौज खड़ी है। और ये नाम व्यक्तिवाचक संज्ञा न होकर भाववाचक संज्ञा बन गये हैं। यह भी प्रचलित है कि प्रति अमावस्याकी घोर रात्रिमें सबके सो जानेपर चुपकेसे यह देवी पाँच वर्षसे नीचेके प्रत्येक शिशुके सिरहाने आकर खड़ी होती है, उसका मुख देखनेके लिए। मातृका, जो है। माँगमें सिन्दूर, हाथोंमें शंखकी चूड़ियाँ; और कोई अलंकार नहीं। यह मुक्तकेशी षोडशी माँ अपने गैरिक परिधानमें एक हाथमें खट्वांग और दूसरेमें सूप लिये हुए अमावस्याकी घोर रात्रिमें मन-वेगसे बावन गाँवोंके आकाश-मण्डलपर चक्कर काटती है और घर-घर उतारती है—ऐसा लोगोंको विश्वास है। आजसे बीस-तीस वर्ष पहले यह शूकरबलि लेती थी। पर आज इसकी उपासना शुद्ध द्विज-पद्धतिसे होती है। षोडशोपचार और हवन-मात्र। यदि कोई तन्त्र-पद्धतिसे पूजना ही चाहता है तो मांसके स्थानपर 'उड़द' (माष) और 'कारन' (मदिरा) के स्थानपर ब्राह्मण 'सोंठ और गुड़' तथा क्षत्रिय 'नारियलका पानी' दे देता है, जैसा कि तन्त्राचारका आदेश है। आज जब कि चमारों और दुसाधोंने पंचायत करके गाँव-गाँवमें कठोर निर्णय ले लिया है कि वे मांस नहीं खायेंगे, प्रायः प्रत्येक चमार-टोलीमें रातको तुलसीकृत रामायणका पाठ होता है और सभी निम्न वर्ग अपनेको आर्यत्वकी दीक्षामें प्रस्तुत करनेपर तुले हुए हैं, इस मातृकाकी किरात-मतसे उपासना करनेका प्रश्न ही नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उठता। इस समूची सामाजिक प्रक्रियाके पीछे, जो देवतासे लेकर मनुष्य तक चल रही है, एक शुभका महान् आरोहण चल रहा है; एक समूची जातिका तेजस्वी पावकमें कायाकल्प हो रहा है।

इस चण्डी-थानसे सटा हुआ पुराना मिडिल स्कूल है जिसमें बचपनमें हम पढ़ने आते थे। तब इस देवी-चैत्यके पीछे एक बड़ा-सा इमलीका पेड़ था जिसकी एक डाल पोखरेके पानीपर झुकी थी। पोखरेके ऊँचे भीटेपर यह चैत्य, यह भैरवबट तथा बग़लका शिवमन्दिर और इन्हें घेरे हुए एक आदमक़द पुरानी चहारदीवारी, ये सभी खड़े हैं कमसे कम तीन सौ वर्षों-से। तीन सौ वर्षोंकी हवा-बयारकी छाप और औरंगज़ेब-फर्रुख़सियर आदिके इसलामी अश्वमेधका चिह्न इन देवमूर्तियोंपर स्पष्ट है। शिव-मन्दिर अपेक्षाकृत नया है। हमने अपने उन सतयुगी दिनोंमें इस इमलीपर-के बन्दरोंसे दोस्ती कर ली थी। वे प्रायः हमारे माँगनेपर इमलीका पका फहुआ गिरा देते थे। और कभी-कभी जब हमारी प्रार्थना अनसुनी हो जाती तब हम लोग 'वीरभोग्या वसुन्धरा' के आदर्शपर ढेलेबाज़ी शुरू कर देते थे और वे सब भी प्रत्याक्रमणमें फहुए तोड़कर दुगने वेगसे चलाते थे। फलतः उनकी मूर्खतापूर्ण रणनीतिसे हमारा मतलब निकल आता था। कभी-कभी इमलीकी लटकी डालपर चढ़कर हमलोग छलाँग लगाकर वीर भावसे पानीमें कूदते थे, तैरते हुए पश्चिमी कोनेपर जाकर काई-सेवार-भरे कमल-वनमें घुस जाते थे और खिली-अधखिली कलियोंको तोड़ लाते थे। उन वयःसन्धिकी देहरीपर आयी कलियोंको निर्दयतापूर्वक अपनी उँगलियोंसे खिलाते थे और यदि सतोगुणका मनमें उदय हुआ तो पचासों कमल देवीके चैत्यपर चढ़ा देते थे (यह सतोगुणी 'मूड' महीनेमें एक बारसे ज़्यादा नहीं आता था) अन्यथा उनके चिथड़े-चिथड़े कर इस क्षमाशील धरतीसे बेमोल पायी गयी सौन्दर्यश्रीको अकारण नष्ट कर पाशविक आनन्दका अनुभव करते थे। कभी-कभी दो दलोंमें 'बदान' (रण-आमन्त्रण) देकर यहींपर 'फ़ैसला' होता था, 'देवी माई' के प्रांगण-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में। मास्टरोंको कानोकान खबर नहीं लगती। धर्मयुद्धके सारे नियमोंका पालन होता था। वीर-भयानक-रौद्रके बाद अनिवार्यतः करुण रसकी धारा भी बहती थी। घोर आर्तनाद होता था। देवी चुपचाप अपने उत्पाती बेटोंका सारा कुकृत्य बर्दाश्त करती थी। अप्रैल-मईमें सवेरेका स्कूल होता था। वैशाखकी कड़ी दुपहरीमें पोखरेका पानी तेज़ तलवारके पानीकी तरह चमाचम हो उठता था, रोशनीकी तेजस्वी लकीरोंपर नज़र नहीं ठहरती थी, बाहर-बाहर हू-हू करके चक्कर काटती गरम हवा बहती थी, उसमें सूखी पत्तियोंके झुण्ड चरखीकी तरह नाचते-नाचते हवाके साथ-साथ दूर तक चले जाते थे, तो हम लोग समझते थे कि हवामें 'बवण्डर' देवताका प्रवेश हो गया है। मारे भयके हम चहारदीवारीके बाहर अकेले नहीं जाते थे क्योंकि 'बवण्डर' प्रेतयोनिका देवता है। उस झन्न-झन्न करती दुपहरियामें जब चिड़ियाका पूत भी नहीं बोलता था, हम उस इमलीके गाछके नीचे बवण्डरोंकी लीला देखते हुए या खेलते-कूदते समय काट लेते थे।

यह तो उस समयकी बात हुई जब मेरे जीवनका त्रेता-द्वापर चल रहा था। आज देखता हूँ वह इमली काट दी गयी है। एक मन्दिरकी नींव उस चैत्यके चारों ओर उसे घेरते हुए पड़ी है। कुछ अंश उठ भी गया है। कल्पनाकी इस दरिद्रताको, 'फ़िलीस्तीन'-दृष्टिके इस आरोपण-को देखकर अत्यन्त खेद हुआ। यह आद्या है; समस्त सृष्टिकी आदि योनि है; अन्तरिक्षके जन्मके पूर्वसे, कल्पके जन्मके पूर्वसे इसका अस्तित्व है; यह त्रिपुरसुन्दरी है; हिरण्यगर्भ विष्णु और महाकाल रुद्र इसके काम-बाणोंसे विद्ध होकर ही सक्रिय होते हैं। इस आदि महाविद्याके मन्दिरकी छत सूर्य-चन्द्रको मस्तकपर धारे आकाशसे क्या कम ऊँची होगी! इसके मन्दिरकी दीवारें दसों दिशाओंसे क्या कम लम्बी-चौड़ी होंगी! पर यह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनुष्य है। जैसे अपनी आत्मा टके सेर बेच रहा है, और शायद भविष्यमें यह कौड़ीके मोल भी न बिके, वैसे ही सोचता है कि वह देवीको भी टके सेर ख़रीद लेगा; देवी अपने लिए एक छोटा-सा घर पाकर ख़ुश होंगी और अपनी क़िस्मत सराहेंगी तथा दाताके नौबतख़ानेपर रोज़ सवेरे जाकर सलामी ठोंक आयेंगी। चाहे देवताकी विराटता हो या सौन्दर्यकी पवित्रता हो या आत्माका तेज हो, मनुष्य सबको अपने मनकी हीनताके प्रतिमानसे नापकर सबका रेट-भाव बाँधता फिरता है। विराटता, पवित्रता और तेजके इन दर्पणोंमें अपने बौने दरिद्र मनकी कुरूपता एक बार भी देख पाता तो उसका मोह भंग हो जाता। जो एक बार भी किसी भी एक दर्पणके माध्यमसे इस 'वज्र-विरूप' मनकी भद्दी मुखाकृति-को देख गया है उसका मोह तुरन्त समाप्त हो गया है, और वह दार्शनिक, कवि या सन्त बन गया है।

देवीके चैत्यसे कुछ दूरपर वटके नीचे एक शिव-चैत्य है। निस्संग, एकाकी शिव। एक सफ़ेद सुडौल आमलक-आकृतिका बड़ा-सा प्रस्तर-खण्ड। यही शिव हैं। 'नर्मदा कंकर, सब शंकर'। वटकी जड़के नीचे एकाकी पड़े हुए हैं। यही इस महायोगिनी चण्डीके चीरवासा अघोर-भैरव हैं। अगल-बग़ल मुरझाये धतूरेके फूल और अक्षत बिखरा है जिसे चींटियाँ ढोकर ले जा रही हैं। पास ही बीस गज़की ही दूरीपर हालका बना शिव-मन्दिर है जिसके गर्भगृहमें एक फ़ुट ऊँचे लिंग-विग्रहके साथ-साथ शिव और सौभाग्यपार्वतीकी मूर्तियाँ हैं। इन अलग-अलग दक्षिणा-मुद्रामें स्थित मूर्त्तियोंके सामनेकी दीवारपर गणेशकी प्रतिमा है—द्वारके ठीक ऊपर। दरवाज़ेसे बाहर वृषभ है। यहाँ हमें देवीके मन्दिरवासिनी होनेमें एतराज़ नहीं। यहाँ वे महामुद्रामें नहीं हैं। यहाँ वे सौभाग्य-पार्वती हैं; पत्नी हैं; माता हैं; एक छोटा-सा सुखद संसार बसाकर चल रही हैं। मैं एक पुराने कविके साक्ष्यसे अपने अन्तर्मनमें सब देख रहा हूँ; सब सुन रहा हूँ। दोनों बच्चे लड़ रहे हैं—'माँ देख, यह कार्तिक मेरी नाकको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पकड़कर एक हाथ, दो हाथ, तीन हाथ करके नाप रहा है और मेरे पेटमें उँगली कोंच रहा है।' दूसरी आवाज़ आती है कुछ तेज़ और चंचल सी—'और माँ इसका भी देख, इसीने पहले मेरी आँखोंको एक आँख, दो आँख, तीन आँख''''करके गिनना शुरू किया था !' माँ हँसती हैं और डाँटती हैं—'अरे, छोड़ दे रे कार्तिक !'

यहाँ हमें एतराज नहीं कि शिवानीको मन्दिरमें क्यों रखा। पर यह महामुद्रा, यह महायोगिनी, यह चण्डिका-विग्रह और यह चीरवासा भैरव—इनकी बात और है। यह महामुद्रा शिव-पत्नी नहीं, उनकी दक्षिणा प्रेमिका है; स्वतन्त्र है; योगिनी है, किसी भी 'पति'से अनुशासित नहीं। चीरवासा भैरव ही उलटे इस त्रिपुरसुन्दरी, इस कामेश्वरीका एक काम-कटाक्ष-भर पानेके लिए उसकी आराधनामें रत हैं। 'पत्नी' और 'प्रेमिका'-में फ़र्क़ होता है। सहचरी 'पत्नी' एक खास अर्थमें 'आश्रिता' भी है। परन्तु प्रेमिका सदैव 'स्वामिनी' है। वह गृहकी सीमासे अभी आबद्ध नहीं है। 'शिव' इस त्रिपुरसुन्दरीके रंगीन चरणका स्पर्श हृदयपर पाते हैं तो उनमें 'चिति'का संचार होता है अन्यथा वे 'शव' मात्र हैं, निष्क्रिय स्थिति-में हैं। पौराणिक शिव और तान्त्रिक शिवमें मूलतः यही भेद है। पौराणिक शिव सौभाग्यपार्वतीके पति हैं; गृहस्थ हैं; पर तान्त्रिक शिव महामुद्रा त्रिपुरसुन्दरीके अघोरभैरव हैं। यही त्रिपुरसुन्दरी चण्डिका, भैरवी, उग्रतारा, काली आदि बनकर विभिन्न महामुद्राओंमें अघोर भैरव शिव-द्वारा साधित होती हैं। दरअसल तान्त्रिक शाक्त-मत मूलतः वेदान्त होते हुए भी सांख्यकी ओर झुका-झुका-सा लगता है। सांख्य दर्शनने मूल माना है 'प्रकृति'को जो सविकार और सक्रिय है तथा नाना रूप धरकर षोडश शृंगारसे असंख्य निष्क्रिय 'पुरुषों'के मनको सक्रिय करती है। यह सही है कि शाक्तोंने 'असंख्य'की जगह एक पुरुष 'शिव'को प्रतिष्ठित किया परन्तु वे निष्क्रिय तबतक रहते हैं जबतक त्रिपुरसुन्दरी प्रियाका चरण उनके हृदयको स्पर्श नहीं करता है। तान्त्रिक शाक्त-मत 'प्रकृति' प्रधान दर्शनमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संशोधन करनेके बावजूद भी प्रच्छन्न 'सांख्य'-सा लगता है। चंचल कटाक्ष-वाली सविकार 'प्रकृति' और यह निर्विकार आद्याकी 'महामुद्रा' दोनोंमें स्वभावगत समानता है। दोनोंके लिए 'पुरुष' पूरक और गौण है।

हिन्दी-क्षेत्र 'पुरुष'प्रधान दर्शनका उपासक है। फिर भी यहाँ साधनागत एकांगीपन कभी भी नहीं रहा। यहाँ सौभाग्यपार्वती और महामुद्रा या महाशक्ति दोनों रूपोंकी उपासना चलती है। मिथिला और असम-बंगालकी तरह यहाँ दशमहाविद्याओं[1]की अलग-अलग तान्त्रिक पद्धतिसे उपासना न करके चण्डी या महाशक्तिके रूपमें, 'मातृका'के रूपमें, उपासना चलती है। वामाचार और तन्त्राचारका तो यहाँ असर ही बहुत कम रहा। परन्तु पूर्वी भारतके सारे शक्तिपीठ योगिनी-पीठ हैं। और 'सर्वेशी, योगिनीपोठे धर्मं कैरातजमतः'। साधना-पद्धति किरात-मतपर पंच 'म' कारके साथ चलती है। साधारणतः दक्षिणाचारमें मानसिक या प्रतीकात्मक रूपसे 'म' ('मांस, मद्य, मत्स्य, मिथुन और मुद्रा) चलते हैं, पर वामाचारी साधक द्रव्यगत रूपमें 'म' का प्रयोग करता है। यह बात और है कि यह अति गुह्य रूपमें होता है। यही नहीं यहाँ शिवकी पूजा अकसर 'भैरव' रूपमें होती है, पौराणिक शिवके रूपमें नहीं। अक्षत, दूध और धतूर-पुष्पसे शिवको पूजनेवाली हिन्दी जातिको सुनकर आश्चर्य होगा कि कामाख्याके भैरव उमानन्द शिवको महाशिवरात्रिके अवसरपर बलि भी दी जाती है। इससे भी दुःसाध्य कल्पना है विष्णुकी भैरव रूपमें प्रतिष्ठा। पूर्वी भारतमें वैष्णव-साधनाका केन्द्र है पुरीका जगन्नाथ मन्दिर।

---

१. दश महाविद्याओंकी विभिन्न तन्त्र-ग्रन्थोंमें दी गयी तालिकाओंमें थोड़ा-बहुत मतभेद है। पर बहुप्रचलित सूचीमें 'काली' तारा, पोडशी, भुवनेश्वरी, छिन्नमस्ता, धूमावती, बगला, भैरवी, मातंगी और कमला' आती हैं। पोडशीको ही 'श्री', कामेश्वरी, ललिता या त्रिपुरसुन्दरी कहा जाता है। श्री विद्याके अनुसार यही मूल शक्ति है और चरम सौन्दर्यका प्रतीक है। तन्त्रोंने इसे पूर्णिमा रूप कहा है और कालीको शक्तिके भैरवी रूपका प्रतीक अमावस्या रूप।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहीं नीलाचलपर बैठकर महाप्रभु चैतन्य देव राधा-भावकी साधना करते थे। यहीं महाकवि जयदेव जब गाते थे :

पश्यति दिशि-दिशि रहसि भवन्तम्
तदधरमधुरमधूनि पिबन्तम्
नाथ हरे, जय नाथ हरे—
—सीदति राधा वासगृहे !

—वासकसज्जा राधाकी व्याकुलताका स्मरण कर जगन्नाथ-मूर्तिकी आँखोंसे जलकी धारा बह उठती थी। वह जगन्नाथ प्रभु शाक्त तन्त्रोंके अनुसार विमलादेवीके भैरव हैं जो उस पुरुषोत्तम क्षेत्र (शाक्तोंकी भाषामें 'विरजा क्षेत्र') की महायोगिनी है। विमलाका मन्दिर जगन्नाथ मन्दिरके प्रांगणमें दायीं ओर है और लक्ष्मीका बाँयीं ओर। यही नहीं; एक विश्वस्त सूत्रका दावा है कि सालमें एक बार गुप्त बलि भी वहाँ दी जाती है। यह पता नहीं कितना सत्य है। जब 'योगिनी' तन्त्र और अन्य तन्त्र-ग्रन्थ हयग्रीव, नृसिंह और वाराहको भैरव बताते हैं तो उतना आश्चर्य नहीं होता जितना अपने चिर-परिचित नटखट 'बालगोपाल' का भैरवके रूपमें उल्लेख पाकर। कहाँ उत्तर प्रदेशमें माखन चुराते थे और माँ-द्वारा मार खाते थे, और कहाँ असम प्रदेशमें जाकर पंच 'म' कारकी रेल-ठेलमें मौज मारने लगे! गोया वे 'शिशु गोपाल' न होकर 'शिशु औरंगज़ेब' हों!

पर यह सब शास्त्र-चर्चा मात्र है। व्यवहारमें वामाचार और तन्त्र आज भारतके किसी भी भागमें नहीं हैं। पूर्वी बंगाल जो इसका प्रधान केन्द्र था अब पाकिस्तानमें है। अन्य जगहोंपर वैष्णवोंने यमुना बहा दी है। महामुद्राकी जगहपर महाभाव! राष्ट्रकी मानसिक पवित्रता और परिष्कृत राष्ट्रीय मनके लिए यह आवश्यक भी था। क्योंकि तन्त्राचार दार्शनिक स्तरपर शिव-शक्तिका मिलन-बिन्दु भले ही खोजे, व्यावहारिक स्तरपर यह शिश्न-उदरकी साधना हो जाता है। यह धर्मका कामना-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दंशित आदिम रूप है। और शाक्त-साधना तथा तन्त्र अपने उच्च स्तर-पर भी काम, क्रोध, मद, लोभकी ही आराधना है। आखिर सिद्धियाँ क्या हैं? शत-प्रति-शत कामना-ज्वरकी महत्त्वाकांक्षाएँ। पर वैष्णव धर्मका तो आदेश है कि युद्ध भी करो तो 'विगतज्वर' होकर; प्रेमकी तो बात ही नहीं। हाँ, तन्त्राचारका दक्षिणाचारी रूप अवश्य ही ऊर्ध्वमुखी है। उसका उद्देश्य है दिव्यदेहकी प्राप्ति। इस पंकदेहके माध्यमसे 'भागवती तनु' (दिव्यदेह) की प्राप्ति कुण्डलिनीके सहस्रारमें जानेपर होती है। प्रथम तो यह साधनाका अति दुरूह रूप है। दूसरा यह कि इसकी पृष्ठभूमिमें कोई सामाजिक दर्शन न होनेसे राष्ट्रीय धर्मानुशासनमें अक्षम है। और हर हालतमें प्रवृत्तिमूलक तो रहता ही है। प्रवृत्तिमूलकता बुरी चीज़ नहीं, यदि वह घोर कामनासे पैदा न हो। पर वामाचार और तन्त्राचारमें कामनाकी असिधारापर व्रत-भंग स्वाभाविक हैं। स्मरण रहे कि ये सब बातें सम्पूर्ण शाक्त साधनाके लिए नहीं, उसके तन्त्राचारी, वामाचारी रूपके लिए ही लिखी जा रही हैं। शाक्त साधनाके भक्ति मार्गका मूल रस है वात्सल्य। यह उतना ही सुन्दर और पवित्र है जितनी वैष्णवता। बल्कि सामान्य जनके लिए सत्त्वगुण प्रधान 'पुरुष'की उपासना-से कहीं अधिक उपयुक्त होगी: सत, रज और तमकी त्रिगुणात्मक प्रकृतिका मूल रूप आद्याकी उपासना।

दुपहरी ढल रही है। दिन लुब्ध जारकी तरह कामना-शापके आकर्षणसे बाधित-सा खिंचकर पश्चिम दिशामें सोयी तक्षक-वधूकी ओर धीरे-धीरे जा रहा है। तप्त धूसरवर्णी आकाश ठण्डा आसमानी रंग ले रहा है। जल्दी ही यह दारुण नीलवर्ण लेगा, मृत्युके पूर्वका कठोर शीतल लौहनील। इसके बाद सतीदाहकी चिताकी तरह लाल लपटोंवाली सन्ध्या आयेगी। पर अभी आधे घण्टेकी देर है। मैं इस चण्डी-चैत्यके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सामने भैरव-वटके नीचे बैठा-बैठा सोच रहा हूँ—बेतरतीववार ऊर्णनाभ-चिन्तन। इस दारुण नील आकाशके तले मुझे एक-एक करके अपने गाँवके विविध उत्सव--काली-पूजा, वनस्पति-पूजा, धरती-पूजा, हरियारी (हरीतिमा) -पूजा याद आते हैं और लोकगीतोंमें 'माँ' को सम्बोधित करके व्यक्त की गयी करुणा याद आती है! वह माँ जो नीमकी फूली डालपर झूलती है रात्रिके एकान्तमें, जो पानके पत्ते-सी पतली तन्वी है। जिसकी तनिमा रातकी टहटही चाँदनीकी तरह है और जो सचराचर मातृका होते हुए भी दरिद्र धनहीन ग्रामवधूकी सखी है। ग्रामवधूका पति बाहर, शायद किसी रुरकेला या भिलाईमें है। भूखसे रोते बच्चोंको सुलाकर वह भी सो गयी है। गौरा पार्वतीका हृदय करुणासे द्रवित हो जाता है और सखीके सिरहाने त्रे चुपके सेर-भर 'साठी' या 'साँवा' रख आती हैं। लोककथाओंके ग्रामीण रचयिताको इस समय भी बासमती नहीं सूझा। ठीक भी है। जो गौरा पार्वती इस दरिद्र वधूकी सखी होगी उसे बासमती स्वयंके लिए नहीं जुटता होगा। ग़रीबका देवता भी तो ग़रीब ही होता है। और शिव-जैसे फक्कड़की वधू! रुपये-पैसेको पहचाननेवाली लक्ष्मी रहती तो और बात थी। पर वह क्यों दरिद्र ग्रामवधूकी सखी होने लगे? तमीचर उलूकोंकी श्रीमतियों, आई० सी० एस्०—भोग्याओं और हिरण्यशापित हिरण्यगर्भाओंसे ही उसे फ़ुरसत नहीं।

इसी समय मनमें एक प्रश्न उठता है कि यह विशाल सहस्रफण हिन्दी साहित्य जो उत्तर-दक्षिण, पूरब-पश्चिम, आर्य-द्रविड़, हिन्दू-मुसलमान आदिकी शब्द-धाराओं एवं भाव-धाराओंका पवित्र संगम है, इस शाक्त भाव-साधनासे क्यों वंचित रहा? पहलेके कवियोंकी दो-चार स्तुतियाँ और महाकवि 'निराला' अपवाद हैं। निराला, जिनका काव्य महनीय (क्लासिकल) परम्पराओंसे अर्जित पुण्यका नये अर्थ और सन्दर्भके साथ पवित्र प्रस्फुटन है, इस महाशक्तिके मोहक सौन्दर्यके मारण-मोहन-उच्चाटन वशीकरण-स्तम्भनवाले सारे रूपोंको अपने साहित्यमें व्यक्त कर गये हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कवि सदैव रामकी तरह 'प्रेम', 'अभय' और 'मंगल'के लिए इस अपराजिताकी उपासना काव्यके माध्यमसे करता रहा क्योंकि उसे समस्त जीवन रावणसे जूझना पड़ा था। 'निराला'को यह कवच विवेकानन्दके प्रभावसे मिला था। पर उन्हें छोड़कर समस्त हिन्दी साहित्य, प्राचीन हो या अर्वाचीन, 'पुरुष' की उपासनामें समर्पित है। इसके विपरीत गौड़-देश सदैव 'प्रकृति'का उपासक रहा है। यहाँकी वैष्णव साधनाका भी केन्द्र है: राधा, जो ब्रह्मकी आह्लादिनी शक्तिका प्रतीक है। सहज प्रेम-साधनाके कवि चण्डीदासने भी अनेक पदोंमें 'सुनो हे वासुली', कहकर किसी वासुली देवी (सम्भवत: उग्रतारा ?)को सम्बोधित किया है। फिर विशाल 'मंगल' काव्य-परम्परा और श्यामागान-परम्परा तो हैं ही जिसका जन्म और उत्कर्ष वैष्णव युगके बाद होता है। १८वीं शतीके श्यामागानके गायक साधक रामप्रसादका महत्त्व चैतन्य देवसे कम नहीं आँका जाता है। वात्सल्य रस और सहज मातृ-प्रेमकी सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति इन श्यामागीतोंमें होती है। 'माँ, मेरी साधना व्यर्थ हो गयी। आशा पूरी नहीं हुई। एक-एक करके सब-कुछ हाथसे निकल गया', साधक रामप्रसाद कहते हैं! 'पर माँ तू एक बार भी पुत्रके निकट नहीं आयी' पुत्रके प्रति उदासीन माँसे लड़ते-लड़ते खीझकर वे कह बैठते हैं—'इस बार मैं ही तुझे निगल जाऊँगा (तू सारे संसारका भक्षण करनेवाली काली है तो क्या हुआ ?) पर मैं कण्ठसे नीचे उतारकर हृदयमें तुझे स्थित कर दूँगा और मानस-कमलोंसे तेरी पूजा करूँगा।'

गौड़ीय शाक्त साधनामें एकाध साधकोंने कालीको पत्नी रूपमें भी आराधित किया है। पुत्री रूपमें मातृकाकी आराधना तो सभी बंगाली-करते हैं। उनके यहाँ पुत्रियोंको 'माँ' कहकर पुकारा जाता है। दुर्गा-पूजाके अवसरपर प्रत्येकका विश्वास है कि माँ उसके घर पुत्री-रूपमें आती हैं। षष्ठीके दिन उनका आगमन पति-गृह (कैलास) से होता है और नवमीको वे फिर ससुराल लौट जाती हैं। इस अवसरपर 'आगमनी' और 'विजया'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दो प्रकारके गीत गाये जाते हैं। आगमनी उमाकी आगमनीका गान है और विजया उसकी महिमाका कीर्तन है। ये 'आगमनी' गीत बड़े ही करुण हैं। पुत्रीके लिए माँकी तीव्र ममता इनमें अभिव्यक्त हुई है। इस दर्पणसे बंगाली माँका व्याकुल ममतामय हृदय झाँकता है। गौड़ देशके पल्ली-ग्राम-अंचलोंमें दुर्गोत्सवके अन्तिम दिवस लगता है कि धरणी ही करुणा-विह्वल हो गयी है और हवामें व्यथा बह रही है। आज पुत्रीकी बिदाई है। उमा पतिगृहको यात्रा करेगी। सारा परिवार शोकविह्वल है। प्रतिमा जब विसर्जनके लिए उखड़ती है तो सबका मन भारी हो जाता है और कुछकी आँखें भी नम हो जाती हैं। अवश्य ही सीमेण्टका पक्का दिल रखनेवाली कलकत्ता नगरीकी बात मैं नहीं कहता। मृण्मय-हृदया ग्राम-धरतीकी बात कर रहा हूँ जो पसीजती है तो धानके पौधोंके माध्यमसे चारों ओर नटखट प्राण खेलता-खिलता नज़र आता है। पर समझमें नहीं आता कि माँ अपने मैकेमें अस्त्र-शस्त्र धारण करके दुर्गा रूपमें क्यों आती है। क्या इसलिए कि वह गृहिणी हो गयी है, कन्या नहीं है और कुशल गृहिणी सतत खड्ग-हस्त रूपमें रहती है?

गौड़ीय शाक्त साधनाके अन्तिम महासाधक थे महाप्रभु रामकृष्ण परमहंसदेव। विश्वकी प्रत्येक सत्ताके साथ ये कालीका अद्वैत देखते थे। स्वतः अपनी पत्नीकी एक बार काली रूपमें पूजा की थी। स्वतः अपने साथ भी कालीका अद्वैत मानते थे। उनके एक गानमें कहा गया है— 'आश्चर्य देखो, ब्रह्म ही ब्रह्मके चरणोंमें बिल्व-पत्र चढ़ा रहा है।' उनके बारह शिष्योंमें विवेकानन्द तो जगद्विजयी वेदान्त-केसरी थे। पर उनका एक तेरहवाँ लाटू नामक शिष्य था, उनका अनपढ़ निरक्षर बिहारी नौकर। वह सम्भवतः छपरा ज़िलेका था। परमहंसदेव भी मस्त फक्कड़ अवधूतोंकी तरह ही बेलगाम ज़बानवाले थे। श्री अचिन्त्यसेन गुप्तकी लिखी हुई परमहंसदेवकी जीवनीमें कई मनोरंजक प्रसंग आते हैं। परमहंसदेव स्वयं बंगला छोड़कर और कुछ नहीं जानते थे। उनके मनमें बात आयी कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लाटूको साक्षर बना दें। पहले तो लाटूने बड़ी आनाकानी की। पर डरके मारे पाठपर बैठा और शिक्षकके रूपमें बैठे उस युगके हिन्दू राष्ट्रके सर्वश्रेष्ठ गुरु परमहंसदेव स्वयं। परमहंसदेवने कहा—'कह 'क'।' लाटूने कहा—'का'। परमहंसदेवने दुबारा फिर कहा—'अरे, कह 'क'।' फिर वही 'का'। एक बार, दो बार नहीं, कई दिन तक बेचारे परमहंसदेव घोर परिश्रम करते रहे। पर उसे 'का' से 'क' कहने नहीं आया। अन्तमें उन्होंने खीझकर कहा—'की, रे शाला ? यदि 'क' 'का' बला जाय, तो 'क' की होबो ? जा, भाग।' लाटू प्रसन्न हुआ—चलो जान बची, पढ़नेसे गला छूटा।

हिन्दी साहित्यमें वैष्णव मनकी ही चलती थी। वैष्णव मनका मूल भाव है समर्पण। इसके विपरीत शाक्त साधना बलि माँगती है। समर्पण और बलिमें भेद होता है यद्यपि दोनों देवताके चरणपर ही चढ़ते हैं। नये साहित्यके उदयके साथ-साथ लगता है कि हिन्दी साहित्यमें भी प्रच्छन्न संज्ञा-निरपेक्ष रूपमें ही सही एक शाक्त मन जन्म ले रहा है। नये साहित्यके अन्तरालमें है भीतरके किसी कोमल और सुकुमारका वध। इस वध या बलिसे साहित्यकी नयी फ़सल उगती है। जिसे लोग दमित वासना कहते हैं। वह वास्तवमें नये साहित्य-सर्जनकी बलिप्रक्रिया है। यद्यपि यह वासना सदैव सुन्दर और सुकुमार ही नहीं होती। विशेषत: नये युरॅपीय साहित्यमें। 'लोलिता' इस कुरूप वासनाकी बलिका उदाहरण है। ऐसा साहित्य देव-नैवेद्य नहीं हो सकता। पर भारतके नये साहित्यमें ऐसे उदाहरण नहीं हैं। मैंने तो अभीतक नहीं देखा है। शरद, जैनेन्द्र, 'अज्ञेय'—सभी इसी देव-नैवेद्यके लिए एक 'क्रूसीफ़िक्शन'-की प्रक्रियाके अन्दर अपने रचनात्मक मनको विकसित किये हैं। इनके साहित्यके अन्तरालमें जानेपर ज्ञात होता है कि ये किसी अति असाध्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साधनके फेरमें हैं। यह 'क्रूसीफ़िक्शन' किसी गहरी असाध्य आस्थाकी खोजमें है। इसे मैं विकृति नहीं मानता। विकृति तभी आती है जब आस्थाको, देवनैवेद्य-भावको, इनकार करके अन्तरकी बलि दी जाती है। तब इसे आत्महत्या कहेंगे। नये साहित्यमें विकृति वहींपर आयी है जहाँ आत्महत्याकी मौजमें साहित्यकार दिग्भ्रान्त हो गया है।

मैंने देखा : दारुण नील वर्ण आकाशमें साँझ उतर आयी है। क्षितिज-रेखाके उस पार सतीकी चिता जल रही है। इधर पूरब दिशामें शोक-कातर शिव अकेले बैठे हैं। चिताकी लाल-पीली लपटोंकी आभासे आकाशका रंग बदल गया है। मैंने देखा कि दिन तक्षक-वधूके मोहिनी दंशसे पीड़ित होकर पीड़ासे रक्तवर्ण फिर लौहनील होने लगा है। मैंने देखा, पूरब दिशामें विश्वेश्वर शिवके भालपर शोक और एकाकीपनके दुस्सह दुःखकी कालिमा छा रही है।

काफ़ी देर हो गयी। अब चलूँ घर। अँधेरा करनेसे क्या फ़ायदा !

आजसे दस वर्ष पूर्व ऐसे विदाके क्षणोंमें आदतवश ही सही 'रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विषो जहि' (और मन ही मन 'पत्नीं मनोरमां देहि···' भी) आदि कहकर विदा होता था। पर अब यह सब कहनेको मन नहीं करता। अब तो मैं अपनेको तटस्थ दर्शक मानता हूँ। तटस्थता-का तप कर रहा हूँ। यह तटस्थता ही नया ज्ञान-योग है जिसमें नयी पीढ़ी विश्वास करती है। मैं भी इसी नये सांख्यमें दीक्षित हूँ। मैं इस चैत्यके नीचे शीश झुकाकर गरिमा और कीर्तिका, दूध-पूतका, आशीर्वाद माँगना अपने नये सांख्यका अपमान मानता हूँ। तथ्य तो यह है कि मैं इस देवीसे अब अपना पल्ला छुड़ाना चाहता हूँ। सयाना हो गया हूँ। क्या सदैव आश्रित ही रहूँ ? अब तो मैं स्वतः इस लायक़ हो गया हूँ कि चाहूँ तो सातों समुद्र सोख डालूँ, दिशाओंको लँगोटी बनाकर बाँध लूँ और नील आकाश तले हिमालय पहाड़की तकिया बनाकर ठाटसे सोऊँ।

पर यह जो है मुझे छोड़ती नहीं। घर जानेपर माँ दरवाज़ेपर पानी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लेकर आती है तो लगता है कि यही छद्मवेशमें खड़ी हो गयी। घरसे बाहर निकलते ही देखता हूँ कि सफ़ेद फ़्रॉक पहने, लाल पेटी कसे, बग़लमें किताब दबाये एक पवित्र 'त्रिपुर-बाला' आकर 'काका!' कहते हुए लिपट जाती है। कभी-कभी हाट-बाज़ार या इधर-उधर मुझे लगता है कि किसी जन्म-जन्मान्तरमें मैं मनियारा साँप था। नागकी मणि खो गयी। वह छटपटाकर सिर पटककर मर गया। इस जन्ममें राह चलते वही खोयी मणि अचानक दिखाई पड़ जाती है और मेरा मन जन्मान्तरकी भूली मणिके तीव्र खिंचावमें दूर तक खिंचा चला जाता है। मैं जानता हूँ कि यह और कोई नहीं 'त्रिपुरकामिनी' है। गंगाकी बाढ़में डूबते पशुओंका आर्तनाद सुनता हूँ। भादोंकी रात क्रोध बरसाती है। कच्चे मकान धम्म-धम्म करके गिरते हैं। मैं जानता हूँ कि 'त्रिपुर-भैरवी' अमावस्या रूपमें रोषका प्रदर्शन कर रही है। चौरंगी और 'न्यू मार्केट'में अपने शीशको काटकर हाथमें लिये हुए 'छिन्नमस्ता'की कबन्ध-मूर्तिका दर्शन तो प्रायः करता हूँ। यह कबन्ध अक्सर बग़लके 'ग्राण्ट होटल'से अपसरित होता हुआ भीड़में अन्तर्धान हो जाता है। इसी तीर्थभूमिमें नर-बलि लेनेको उत्सुक भगवती 'उग्रतारा'के भी दर्शन हो जाते हैं। 'उग्रतारा'के कानों और उँगलियोंपर जलते हीरक-खण्डोंसे प्रकाश फूटता रहता है और पीछे-पीछे निरीह कमसिन बलिपुरुष धरतीके भारकी तरह अनुगमन करता है। और 'धूमावती'? उसे रोज़ पास-पड़ोसमें देखता हूँ। अभी तो कलकी ही बात है झाड़ू-हस्ता करनबो काकीने शुद्ध भोजपुरी साहित्यकी समस्त महिमा और अर्थ-गौरवके साथ टोले-मुहल्लेके सात ही नहीं चौदह पुश्तोंको घण्टों तक आशीर्वाद दिया था।

लगता है कि चर-अचर, हवा-पानी, धरती-आकाशमें कोई ऐसा बपुरा नहीं जो इसकी नज़रोंके तीरसे घायल न हो। 'बेधि रह्यौ सगरो संसारा!' सभी इसीके माध्यमसे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रस, प्राण और मरणकी उपासना कर रहे हैं। तो फिर मेरा पल्ला यह कैसे छोड़ेगी? घण्टेमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कमसे कम दो बार मेरी तटस्थताका अधम तप इसके किसी-न-किसी रूपका स्पर्श पाकर हवा हो जाता है। मैं लोक-संयुक्त हो जाता हूँ। मेरा ज्ञानयोग भंग हो जाता है। और मैं तप-भ्रष्ट होकर सोचता हूँ कि जीवन-भर तो यह लोक-संयुक्त मुझे रखेगी ही, मरणमें भी अकेले नहीं छोड़ेगी। मैं जानता हूँ, जब प्राण और रसका सहचर मेरा चन्द्रमा पुण्य क्षीण होकर पाण्डुर वर्ण हो जायेगा जब मरण-सूर्यका उदय मेरे सिरहाने होगा और उसके तेजकी वर्षासे मेरे शीशका पुण्य अभिषेक होगा जिससे मेरा समस्त कर्दम भस्म हो जायेगा, उस महान् क्षणमें यही त्रिपुरसुन्दरी 'मृत्यु-प्रिया'के रूपमें मेरे सम्मुख आयेगी। इसका हाथ पकड़कर मरण-पथ-पर भी मुझे 'भय' नहीं सतायेगा। पार्वती रूपी धरतीसे लेकर मृत्युलोक-की दुस्तर वैतरणी तक वृन्दावन छा जायेगा। भय किस बातका? मृत्यु और अमृत दोनों 'एक' की ही छाया हैं! भय तो तभी है जबतक निस्संग हूँ, तटस्थ हूँ। साथ-साथ चलनेपर भय कैसा?

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्गुण नक़्शे : सबुज-श्याम धरती

पहले-पहल जिस नक़्शेका दर्शन हुआ वह था गाँवका बन्दोवस्ती नक़्शा। काकाने एक दिन बुलाकर दिखाया था—"देख, यही गाँवका नक़्शा है। बिलकुल पक्का। लाट साहब भी इसे काट नहीं सकते हैं।" मैंने देखा, आड़ी-तिरछी वक्र रेखाओंका जाल और एक सफ़ेद काग़ज़। बड़ा विचित्र-सा लगा। हरे-हरे खेतों, खपरैलके मकानों, इमली और नीमके पेड़ों, चबूतरों और बिरवाइयोंसे भरा मेरा गाँव इस रेखा-व्यूहके अन्दर कहाँ है? मेरी कल्पना कोई अर्थ पानेमें असमर्थ रही। फिर एक बार जब चैत्रमें आम फलकर लद गये और काकाने नक़्शेके बलपर 'बज़ाब्ता, दीवानी, अदालत, हक़ूक तक़सीम' आदि उर्दू-शब्दोंका उछल-उछलकर उच्चारण करते हुए मेरे दो पेड़ोंको अपने हिस्सेमें सिद्ध कर दिया तब पिताजीको इस उर्दू-लिपि-अंकित रेखा-व्यूहके प्रति नत-मस्तक पाकर मुझे भी इसकी महिमा स्वीकार करनी पड़ी। पर इसके प्रताप एवं इसकी सत्ताके प्रति नतमस्तक होते हुए भी मनमें यह बात धँस नहीं पायी कि ज़मीन हरी है, आकाश नीला है, खपरैल लाल हैं, तो इन सबका इस नक़्शेके निर्गुण-चित्रमें लोप कैसे हो गया। मेरा मन उन दिनों सगुण भाव-बोध खोजता था। कवि शैलीकी तरह बहती हवाके झोंकोंसे बाज़ी लगाकर कभी भी नहीं दौड़ा और न वर्ड्सवर्थकी तरह आत्माको सौन्दर्य एवं भयके संवेदनोंका पान करानेके लिए आधी रातमें सुनसान झीलोंके वक्षपर नौका-विहार किया। पर अपने आँगनमें घुसती वर्षाकी जलधारा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को लाठियोंसे पीटकर दण्डित कर चुका हूँ। मदोन्मत्त औरंगज़ेबकी तरह छोटे-मोटे पौधोंको कई बार निरपराध सज़ा दे चुका हूँ। उन्हें ध्वंस करके गर्वसे मेरा सीना तन जाता था, मूँछें न होनेका अफ़सोस हो जाता था। निसर्गके इस प्रगाढ़ सगुण भावबोधको ग्रहण करनेवाली मेरी कल्पना, उन दिनों भला उर्दू-लिपि एवं काली रेखाओंके निर्गुण विस्तारको क्यों स्वीकार करती? भले ही नक़्शा सरकार बहादुरके घरसे आया हो, जैसा कि काकाका दावा था। भले ही नक़्शेको सरकार बहादुरने छुट्टीके दिनोंमें अपने हाथसे स्वयं बनाया हो। तो इससे क्या?

बादमें हिन्दुस्तानका मानचित्र देखा जिसमें उत्तर प्रदेशको हरे रंगसे और बंगालको लाल रंगसे दिखाया गया था। तब उस प्रथम या द्वितीय श्रेणीके टाटपर बैठनेवाले नम्बर 'एक' विद्यार्थीके मनमें, जिसे मैं उन दिनों 'मैं' कहकर पुकारता था, यह धारणा बनी थी कि बंगालकी मिट्टी लाल है—पके झाँवाकी तरह। कई वर्ष बाद बंगदेशकी 'सुजलाम् सुफलाम् शस्यश्यामलाम्'का साकार दर्शन हुआ। पर आश्चर्य तब हुआ जब बंगाली बन्धुओंके मुँहसे 'सोनार बाँगला' ही सुना—'शस्यश्यामलाम्'—मातरम्की चर्चा और उसके 'फ़ासिस्ट कवि' (अन्तर्राष्ट्रीयतावादके मूढ़ मोहान्धकारसे ग्रस्त बुद्धिवादियोंकी कायर शब्दावलीमें, जिन्हें लोहिया 'भेंड़-विप्लवी' कहते हैं), दोनोंको कलकत्तेमें घोर उपेक्षाका पात्र पाया। 'सोनार बाँगला' दूसरे प्रकारका झूठा नक़्शा है जिसके मोहको निर्गुण रवीन्द्रनाथ भी अस्वीकार नहीं कर सके। सबुज-नील धरती और धूसर नील आकाशका यह घोर अपमान है। पर मनुष्यके अन्दर शायद स्वर्णका आकर्षण अधिक प्रबल है, इसीसे वह सदैव 'एल्डोरेडो'की कल्पनामें लीन रहता है। धरती सदैव हरी रहती है। जीवन सदैव प्रवहमान रहता है। पर मनुष्य इस हरीतिमा और इस प्रवाहको भूलकर उसपर अपने मनके पूर्वग्रहों, अपने संस्कारों और बुद्धिके निर्गुण नक़्शोंकी मुहर मारता रहता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। पर इस अतल ग़ोताखोरीके बावजूद उपलब्धिके नामपर सड़ी मछली हाथ लगती है।

मनुष्यने भाव-विकासकी लम्बी प्रक्रियामें संस्कार एवं पूर्वाग्रहोंकी रेखाओं-द्वारा जितने निर्गुण नक़्शे तैयार किये हैं उन सबका विषय या तो निसर्ग है, नहीं तो मनुष्य। समस्त वाङ्मय, समूचा साहित्य निसर्ग एवं मनुष्यसे सम्बन्धित मानचित्रोंका 'एटलस'-मात्र है। इन दोमें भी निसर्ग ही मनुष्यका प्रथम परिचय होता है, द्वितीय तो स्वचिन्तनके साथ उत्पन्न होता है, जो उसके बादवाले स्तरोंकी विधा है।

निसर्ग साहित्यसे मेरा प्रथम परिचय 'बेसिक हिन्दी रीडर'से हुआ। हम लोगोंसे पहले शिशुकक्षाओंमें चौथी श्रेणी तक एक बेजान, मरी वर्णसंकर भाषा (जो भाषा नहीं ऐसी 'सौदाबाज़ी' थी जो पट नहीं सकी और न कभी पट सकेगी) पढ़ायी जाती थी : हिन्दुस्तानी। उसमें ऐसी भद्दी-भद्दी पंक्तियाँ थीं :

उछले-कूदें दोहे गायें
आओ, आओ सैर को जायें।

यहाँ 'कविता'के स्थान 'दोहे' हिन्दुस्तानी शैलीकी बदतमीज़ी है। इसके बाद आयी बेसिक रीडर। इसमें भाषाकी भंगी एवं अभिव्यक्तिकी शक्ति एकदम भिन्न थी।

नन्हीं-नन्हीं जल की बूँदें जब लेकर आता है बादल।
बेला की नव पंखड़ियों में मोती बिखराता है बादल॥

संगीत, भाषाकी सरलता एवं सुरुचि सभी इन पंक्तियोंमें वर्तमान हैं। आगे है :

कुछ सिहर-सिहर
कुछ मचल-मचल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चम्पे की नव कलियाँ
खिल उठतीं नव जल से सुरभित होकर
झर-झर झरते तुषार के कण
इन्द्रधनुष-सी रेखा बनकर
आभामय हो उठता उपवन ।

समूची कवितामें 'नव' और 'उपवन' यही दो शब्द थे जो बोल-चालमें नहीं आते । काश्मीरी-संस्कृतिके सड़े गुलाबोंको भले ही एतराज़ हो पर चौथी-पाँचवीं श्रेणीके छात्रोंको बोल-चालकी भाषासे ज़रा अधिक अभिव्यक्तिपूर्ण भाषाकी ओर ले जानेका प्रयत्न कौन-सा पाप है ? क्या विडम्बना है कि हिन्दीमें एम० ए० तककी किताबें एवं प्रधान मन्त्रीके द्वारा दिये गये विदेश-नीतिपर भाषण भी लोग बोल-चालकी भाषामें ही सुनना चाहते हैं अन्यथा 'शीर्षवलक्ष, बूढ़ा···नीतिज्ञ' फाँसीका ही हुक्म दे देगा ।

बेसिक रीडरमें पढ़ी निसर्ग कविताका भाव-बोध बड़ी सरलतासे मिल गया । उन दिनों मैं बेलाकी नव पंखुड़ियोंमें मोती बिखेरनेका दृश्य नित्य देखा करता था । परियोंकी शाहज़ादीका आकर मोतियोंसे आँचल भरना एक सत्य कथा थी । काकाका नक़्शा झूठा था, पर कविता जो कुछ बड़े होनेपर पढ़ी झूठी नहीं ज्ञात हुई । दिलके मौसम बदलते रहते हैं । बचपनमें हृदयकी जल-वायु ऐसी थी कि उसमें मनुष्यकी भाषा बोलनेवाले पेड़-पौधे जन्म लेते थे और अनोखे-अनदेखे रतन हृदय-समुद्रसे मथकर मैं प्रतिदिन निकाला करता था । उसी पुस्तकमें एक जगह था :

हैं गुलाब फूलों का राजा, लिली फूल की रानी
चम्पा है फूलों की देवी, रूप सुगन्ध सुहानी ।
किन्तु कमल सबका सरताज
वह सब फूलों का महराज ।····

ऐसा ही कुछ एक कोरस-गान था जिसमें पुष्पोंके सम्राट्, शोभा और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उल्लासके प्रतीक, सरोवरके वीतराग संन्यासी, मत्तगजराज एवं मरालों-द्वारा दिया जानेवाला प्रियाको रति-उपहार एवं इस भारतवर्षके सौभाग्य-के प्रतीक कमलकी राज-वन्दना थी। तब मेरा मन राजा, रानी, परियों और मोतियाँ चुननेवाली शाहज़ादीको खूब पहचानता था। उसे अपनी हीनता एवं दरिद्रताका बोध तव नहीं था। आज मेरा मन कितना कंगाल हो गया है। मोती और आभाको कल्पना मानकर अपनेको सन्तोष दे लेता हूँ। राजा-रानीका तो प्रश्न ही नहीं उठता। राजा-रानी एवं शाहज़ादियोंकी वंश-परम्परा अपने मायावी रूपको बदलकर आज भी वर्तमान है। पर कभी मैं उनका मित्र था तो आज उनका समूल विनाश, निर्वंश करनेका स्वप्न देखता हूँ। रस और सौन्दर्यके प्रति मेरी शत्रुता, जैसे-जैसे मनुष्यके साथ परिचय प्रगाढ़ होता गया, वैसे-वैसे बढ़ती गयी। मैं आज मानने-सा लगा हूँ कि यह रस और यह सौन्दर्य हमारे पिताओं, हमारे सन्तों और हमारे कवियों-द्वारा गढ़ी गयी लौह-शृंखलाएँ हैं। बिना इसे सम्पूर्णतः छिन्न-भिन्न किये आत्म-त्राण नहीं। हो सकता है कि मेरे इस क्रोधके मूलमें अपनी हीनताका बोध, अपना आत्म-तिरस्कार ही हो।

मनुष्यके साथ परिचयकी बढ़ती प्रगाढ़ताने केवल मेरे मोतियों और मेरे आभामय उपवनको मुझसे छीन लिया और रस तथा सौन्दर्यके खूनका प्यासा बना दिया, बल्कि निसर्ग भी धीरे-धीरे मेरे लिए मरने-सा लगा। मेरे कहनेका तात्पर्य यह नहीं कि मुझे इसका पश्चात्ताप है कि अब बन्दरोंपर ढेले नहीं फेंकता, कोकिलोंको बाग़में नहीं चिढ़ाता अथवा मूर्खोंकी तरह गरजते बादलोंको कुत्सित गाली नहीं देता। नहीं, यह तो सगुण बोधकी प्रारम्भिक भोथर-अनगढ़ अवस्था थी। इसे तो जाना ही था। पर इसके बाद इसे सुरुचिपूर्ण सौन्दर्य-बोधमें धीरे-धीरे परिणत होना चाहिए था, पर वैसा कुछ हुआ नहीं। वह रस-बोध वहींपर मर गया और बुद्धिके 'ड्रिल'ने मनके अन्दर लोहेके प्राचीर खड़े कर दिये। ये प्राचीर कभी-कभी पिघल पड़ते हैं अवश्य, पर इनकी दरारसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हरीतिमा नहीं उग सकती है। युग-बोध वीरताका उपदेश देता है, अन्तरमें लोहा भर देता है। पर जीवनके सारे क्षणोंमें कवच बाँधे वीरासनमें रहना बड़ी दयनीयता है। यह भयकी दुर्निवार चिरन्तन स्थितिका बोध है। भयकी यह चिरन्तन उपासना है।

वैदिक-युग हमसे इतना दूर और विच्छिन्न है कि उसकी किसी भाव-धाराका आंशिक भावबोध नहीं हो पाता। इस वैदिक-युगमें निसर्ग-उपासनाके चिह्न मिलते हैं। पर उनकी चर्चा करना इसलिए व्यर्थ है कि उसकी सगुण अनुभूति करनेमें आजका मन असमर्थ है। इसके बाद महाकाव्योंसे छायावाद तक एक अविच्छिन्न धारा बहती है जो विकासमान होते हुए भी परिवर्तनवादी या क्रान्तिशील अत्यल्प मात्रामें है। साहित्यमें निसर्गकी स्थापना रूमानी-युगके आगमनके साथ, अर्थात् छायावादसे, चलती है। इसके पूर्व निसर्ग मनुष्यके उल्लास अथवा व्यथाकी सजावट या पृष्ठभूमिके रूपमें मिलता है, स्वतन्त्र विषयके रूपमें नहीं। रूमानी आन्दोलनके नेता वर्ड्सवर्थ तथा शेलीने निसर्गको सजीव एवं दार्शनिक सत्ताके रूपमें देखा। बदलती ऋतुओं और लता-तरुओं तथा धरती-आकाशके निरन्तर प्रवाहशील-परिवर्तनशील दृश्योंके पीछे एक नित्य सत्ताका आभास या कमसे कम सजीव सत्ताका आभास, निसर्ग-बोधकी नयी दिशा थी। यह एक प्रकारका नक़्शा था जिसे दर्शनकी चिन्तन-पद्धतिमें अनुशासित बुद्धिने सजीव धरती और निसर्गपर आरोपित किया। फिर भी यह नक़्शा निर्गुण नहीं। सगुण रंगोंको पोंछकर इसे बिलकुल दार्शनिक कंकालके रूपमें उपस्थित नहीं किया गया है। कल्पना और अनुभूतिकी बनावटमें कहीं-कहीं चिन्तनके रंगीन डोरे डाले गये हैं।

यह क्रम बहुत दिन तक चला। पर धीरे-धीरे इसकी बौद्धिक 'अपील' चुक गयी और महज़ रूमानी आकर्षण रह गया। दूसरी ओर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चित्रकलामें प्रभाववादका फ़ैशन बढ़ा, जीवनकी यथातथ्यताको महत्त्व मिला और यह रूमानी आकर्षण हलके मद्धिम संवेगोंका आकर्षण मात्र रह गया एवं इसके पीछे एक दार्शनिक पद्धति एवं बौद्धिक धरातलका लोप होता गया। निसर्ग फिर संवेदनोंका आश्रय मात्र हो गया। २०वीं शतीमें निसर्ग-बोधकी रूमानी दिशाकी चरम परिणति प्रतिबिम्बवादी कवितामें होती है :

"यह नीली तरुपाँति, तुम
यह नील शैवाल, तुम
तुम नीली काई, तुम हो वनफ़्शाके फूल
बैंगनी, उस पर बहता वातास तुम हो
एक बच्चा—इतना ऊँचा—कन्धेपर
तुम हो।"

—(ई० पाउण्ड)

"मथो इस समुद्र को
झकझोरो ये नुकीले देवदार
(हरे समुद्र—हरे देवदार)
नहला दो ये हरे देवदार
हमारी इन शिलाओं पर
उड़ेलो ये सारी हरीतिमा हम पर
हरे पत्तों के सरोवरों से ढक दो
हमारे तन को, मन को।"

—(एच० डी०)

आधुनिकतम निसर्ग-कविता प्रतिबिम्बवाद और प्रतीकवादके मेलसे उत्पन्न टेकनीकमें लिखी जाती है और उसकी पृष्ठभूमि अब मात्र संवेदन आश्रित न रहकर चिन्तन-प्रधान हो गयी है। डी० एच्० लारेन्स और बादमें डायलन टॉमसकी कविताओंमें जैविक (बॉय-लॉजिकल) अद्वैतवाद

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं जैविक दर्शनके साथ-साथ एक नयी आध्यात्मिक अनुभूतिको मूर्त किया गया है। यह नयी आध्यात्मिकता डी० एच्० लॉरेन्समें अनगढ़ और सादी है। पर डायलन टॉमस तक आते-आते परिष्कृत और विदग्ध बन जाती है। डी० एच्० लॉरेन्सके देवदारु टस्कनी (एक प्रान्त) के आदिम निवासियोंकी मुक्त आत्मा एवं मुक्त जीवन-प्रवाहके प्रतीक हैं। सर्प कविका बन्धु है, जो बिछुड़ गया है। मनुष्यके संस्कारोंने, जिन्हें उसने संस्कृति-सभ्यताके नामपर विकसित किया है, धरतीके अन्य जीवोंसे उसे वियुक्त कर दिया है। ये संस्कार हमें भय और अविश्वास तथा हिंसाका पाठ पढ़ाते हैं, इसीसे सर्प-जैसा सीधा-सादा एवं शानदार जीव हमसे भय और अविश्वास करता है। यह संस्कार-जाल हमारी स्वस्थ एवं मुक्त-वृत्तियोंको जकड़कर बाँधे है और हमारा बढ़ाव इस संस्कारोंके लौह-कवचमें हमारे बद्ध हो जानेके कारण रुक गया है। हम आदमी नहीं, साँचेमें कसे जीवमात्र हैं। प्रकृतिसे वियुक्तिकी कथा वर्ड्सवर्थ भी कहता है पर उसका दृष्टिकोण अद्वैतवादी एवं कम या बेश श्रद्धालु है। यहाँपर डी० एच्० लॉरेन्सके चिन्तनमें श्रद्धा नहीं विवेक है, अद्वैतवाद नहीं नया जीवशास्त्र है, जिसने जैविक स्तरपर एक नये अद्वैतवादका प्रतिपादन किया है। आधुनिक निसर्ग कविता जैविक सत्योंका बिस्तार है। डायलन टॉमसकी आधा दर्जन चुनी रचनाएँ (उसकी हर प्रकारकी सर्वोत्तम एक दर्जन रचनाओंमें-से) इसी जीवशास्त्रीय अद्वैत तथा नयी आध्यात्मिकताको व्यंजित करती हैं। वह शक्ति जो 'हरित अग्निवाही तार' के रूपमें पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों एवं निर्झर-पाषाण आदिमें व्याप्त है कविके अन्दरसे होकर गयी है। वह कविके अन्दर भी व्याप्त है और समस्त जीव-जगत्‌से कविको संयुक्त करती है। ('द फ़ोर्स दैट रंस थ्रू द ग्रीन फ़्यूज....'।) 'हरी आग' को डायलन टामसने जीवन-उष्मा या जीवनी शक्तिके अर्थमें प्रयुक्त किया है। उसकी एक अन्य कविताका भावार्थ यह है : "जिस रोटीको मैं तोड़ता हूँ, जिस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शराबको मैं पीता हूँ, वे गेहूँ और अँगूरमें निहित थे। दिनमें मनुष्य और रातमें हवाने फ़सलको काटकर धरतीपर गिरा दिया (१)। वह मांस जो अँगूरकी लतापर (फलके रूपमें) लटका था, वह रोटी जो गेहूँमें निहित थी, दोनोंके अन्दर एक साँस, एक जीवन वर्तमान था। मनुष्यने इस सूर्य (प्राणका प्रतीक) को और इस साँसको काटकर टुकड़े-टुकड़े कर दिया (२)। जिस मांसको तुम तोड़ते हो, जिस रक्तको तुम धमनियों-को शून्य करके बहाते हो, वह वास्तवमें एक दिन गेहूँ और अँगूर था जिनकी पैदाइश वासनाके रस (शुक्र) से ही हुई थी।...तथ्य तो यह है कि तुम मेरी रोटी (मांस) खा रहे हो और मेरी ही शराब (रक्त) का पान कर रहे हो (३)।"

टॉमसकी यह कविता अत्यन्त उलझन-भरी कविताओंमें-से एक है जिसमें ईसाई रहस्यवाद, जीवशास्त्रीय अद्वैत तथा कविकी रचना-प्रक्रियाका दर्शन तीनों संयुक्त रूपसे बद्ध हैं। पर इस अर्थत्रिपुटीका सम्पूर्ण भार अन्तिम पंक्तिपर ही आकर केन्द्रित हो गया है। इसमें 'तुम' शब्द पाठकके लिए आया है और 'मैं' शब्द कवि तथा 'जेसस' दोनोंके लिए। मसीहाके तनको रोटी और रक्तको शराब मानकर पुजारी (प्रीस्ट) दीक्षाकालमें (और अन्तिम कालमें भी, मृत्युशय्यापर) प्रत्येक ईसाईके साथ सह-पान करता है। कवि भी मसीहाकी तरह है। 'क्रास' रचना-प्रक्रियाका प्रतीक है। क्रासपर झूलती कवि-आत्माके द्वारा सर्जित कविता ही रोटी और शराब है। पाठक इसीका आस्वादन करता है। इन दो अर्थोंके अतिरिक्त वायॅलाजिकल अद्वैत भावकी एक तीसरी परत भी है। समस्त सृष्टि मूलतः एक जैविक चक्र है जिसमें एक स्थितिसे दूसरी स्थितिमें हम चलते जाते हैं, पर यह भौतिक तत्त्व (मैटर) कभी नष्ट नहीं होता है। इस तरह जो आज हमारा मांस-रक्त है कल हमारे मरनेपर विविध जैविक प्रक्रियाओंके अनन्तर वनस्पति बनेगा। जीवन-उष्मा ('हरी आग') और भौतिक-तत्त्व ये दो अमर हैं। शेष क्षण-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्षण परिवर्तनशील। अतः हो सकता है, कल हमीं रोटी और शराबमें परिवर्तित हो जायें और कोई अनागत 'तुम' उसका आस्वादन प्राप्त करें।

निसर्गके बोधसे मनुष्यने जिन बौद्धिक नक़्शोंका निर्माण किया है, उनमें-से कुछकी चर्चा हमने की है। निसर्ग एक अनन्त सम्भावनाओंवाली सत्ता है। नक़्शे आखिर नक़्शे ही हैं। वे उसे बाँध नहीं सकते। वे उसका सगुण भाव-बोध देनेमें असमर्थ हैं। किसी वर्ड्सवर्थ या डार्विन या लॉरेन्सके नाम निसर्गका पट्टा नहीं लिखा जा सकता। बयनामाकी हेंकड़ी भरना बेकार है। श्यामल दूर्वा जो पुराकालमें विष्णुके साथ प्रकट हुई ("....क्षीरसागर-संभूते..." : दूर्वा-मन्त्र) सनातन है। फिर भी मनुष्यका अपराजेय मन, विश्वकी जितनी असीम सत्ताएँ हैं, उनकी सीमा बाँधनेमें सदैव रत रहता है।

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्वासन और नीलकण्ठी प्रिया

इस बार भी वसन्त वैसे ही आया है, मदपायी फक्कड़ बलरामकी तरह। हिन्दुस्तानकी धरती अपनी सारी दरिद्रताको भूलकर एक महाराग-में लीन हो गयी है। मैं इस समय जिस देशमें हूँ वह कामरूप है, नाम और स्वभाव दोनोंसे। यह महागौरीका 'योनिमण्डल' है। यहींपर भस्मी-भूत 'काम'को पुनः 'रूप' मिला था। अतः इस कजरी-वनमें यदि हरित कचनार फूटे, यदि वायु यहाँकी कच्ची उमरकी हरियालीका मर्दन कर नशीली रति-गन्धसे भर उठे, सेमल और पलाशपर कामनाका चटक लाल नशा छा जाये, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। पर मैं सोचता हूँ कि अपनी प्यासी पर दर्पोन्नतशीश राजस्थानकी मरुभूमिमें भी मोर्चा-दर-मोर्चा कँटीली नागफनी अपनी शोभाका फण काढ़कर गर्वसे खड़ी हो गयी होगी कि खबरदार, पद्मिनी है, आगे मत हाथ बढ़ाना! सर्पमणि है। दर्पणमें छाया देखकर सन्तोष कर लो। तुम मायाकी सन्तान हो अतः छविको उसकी सारी असलियतके साथ तुम्हारी आँखें बरदाश्त नहीं कर पायेंगी। असली छवि तो वही बरदाश्त करता है जो योगी हो, अवधूत हो, कबीर हो, 'निराला' हो!

वसन्त आया है पर ग्रीष्मसे मिला-जुला। एक ओर आमके टिकोरे लगते हैं; शीशमके नरम टूसे उगते हैं फिर डाल-डालपर निर्मल हरियाली-की झालर लग जाती है। दूसरी ओर फ़सल कटती है, खलिहानका वैधव्य समाप्त होता है, पछुआ हवा झझकोरकर बहती है, भूसा एक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ओर उड़ता है, दानोंकी खर-खर वर्षा होती है। लगता है, ईश्वरका जन्म हो रहा है। सारी धूल और गर्द-गुब्बार मंगलमय लगती है। प्रकृतिमें कहीं वयः-सन्धि, पूर्वराग, राग और नोंक-झोंक है, तो कहीं गर्भाधान और नया जन्म है और कहीं-कहीं पाण्डुरवर्णी निर्वाण है, वह मुक्ति है जिसकी साधनाके लिए डालपातवाला शरीर मिलता है। यह हिन्दुस्तानकी धरती ही ऐसी है कि इसमें शृंगार, करुण, वीर, रौद्र आदि विभक्त अलग-अलग नहीं आते। एकके भीतर दूसरेकी परत समायी है। सब मिल-जुलकर महाबोध या महारस व्यक्त करते हैं। हिन्दुस्तानका वसन्त भी बेवक़ूफ़ आशिक़ नहीं। वह भी दार्शनिक है। मदोन्मत्त बलरामकी तरह नशा पीकर विचरण करते हुए भी उसके एक हाथमें हल है दूसरेमें कमण्डल ! रसपायी होते हुए भी भीतर-भीतरसे वैरागी और फक्कड़ है।

धरती महासागरमें लीन है ! मैं सब-कुछ देख रहा हूँ। किसी उजड़े दरिद्र वृन्दावनसे वंशीकी आवाज़ आ रही है। मैं सुन रहा हूँ। पर आज इस वंशी-स्वरका बोध बड़ा ही खण्डित है, गाँठ-गाँठ टूटा हुआ है। मैं इसके समग्र रूपका बोध नहीं पा रहा हूँ। मैं क़रीब छह दिनोंसे इस महारागके गडुलिका-प्रवाहसे निर्वासित कर दिया गया हूँ। आज सातवाँ दिन है। मुझे बुखार है।

विराम नहीं। क्षमा नहीं। मुक्ति नहीं। कभी-कभी तो लगता है कि मस्तककी नाड़ियाँ मारे व्यथाके फट जायेंगी। सदैव न सही, पर कभी-कभी लगता है कपालमें, ललाटके नीचे पीड़ाकी हज़ार-हज़ार गाँठें हैं। एक-एक गाँठमें अपार वेदना वक्राकार ऐंठन दे रही है। उस समय विराम नहीं, मुक्ति नहीं, क्षमा नहीं। उन क्षणोंमें लगता है कि यह वसन्तको महाराग लीला नहीं बल्कि दिशाओंमें सतीदाह हो रहा है; दोपहरकी कठोर, स्पात-सी निर्मम भावहीन वेलामें दशों दिशाओंमें त्रिपुरसुन्दरीकी चिता जल रही है। मैं तप्त आकाशके नीचे अपने अगल-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बग़ल जलती हज़ार-हज़ार चिताओंके बीच लेटा हूँ उनके तापसे झुलस रहा हूँ। माना कि ये अनुभव सदैव नहीं, चरम स्थितियोंके हैं। यह चरमस्थिति अविराम नहीं। पर छह दिनोंसे निर्वासन तो अविराम है। मैं मृत्युसे नहीं डरता। मैंने जिस दिन जन्म लिया, उसी दिन उसके दस्तावेज़पर हस्ताक्षर कर दिया था। जो मेरी प्रतिबद्धता है उसका क्या मलाल और क्या पछतावा! पर इस निर्वासनके लिए मैं प्रतिबद्ध नहीं हुआ था। यह निर्वासन मेरे लिए अति दुर्वह स्थिति है।

रवीन्द्रनाथने सोना पैदा करनेवाली एक यक्षपुरीकी कल्पना की है। उस यक्षपुरीका एक एकाकी राजा है जिसका असंग एकाकी जीवन मेरे इस निर्वासनकी तरह ही दुःखमय है। बाहर-बाहर भीड़ फाग खेलती है। बाहर-बाहर गड्डलिका-प्रवाहका स्रोत अपनी नित्य गतिसे चालू है। बाहर-बाहर श्रेणी-संग्राम चल रहा है। सिंहद्वारपर भूत और भविष्यका, व्यक्ति और समाजका घनघोर युद्ध चल रहा है। पर यह बेचारा यक्षपुरी-का राजा?

"रोदन रोदन केवलइ रोदन,
केवलि विषाद श्वास
लुकाये, शुकाये, शरीर गुटाये,
केवलि कोटर वास
नाहिं कोनों काज
माझे-माझे चास, मलिन आपना पाने
आपनार स्नेह कातर वचन,
कहिस आपन काने।"

—यह कोटरवासी राजा और मेरा निर्वासित मन दोनों एक ही नियतिके शिकार हैं। फ़र्क़ यही है कि मैं सोना बनानेवाली यक्षपुरीका प्रभु नहीं, दरिद्र हिन्दुस्तानकी मामूली सन्तान हूँ।

रवीन्द्रनाथ 'निर्वासन'-रसके कवि नहीं थे। साहित्यमें 'निर्वासन'को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वतन्त्र रसके रूपमें नवलेखनके अन्दर देखा जाने लगा है। रवीन्द्रनाथ 'अकेलापन'के कवि हैं। 'नित्य अकेलापन'में कवि अपने एकान्तमें, अपने चरमक्षणोंमें अकेले जीता है। पर उन्होंने यक्षपुरीका राजा बनना इसलिए हेय और विकृत माना है कि वह अकेला ही नहीं 'निर्वासित', कोटरबद्ध जीव है। अकेलापनमें आवश्यक नहीं कि 'निर्वासन' ही हो। कवि अपने एकान्तमें सदैव जीवन देवताके साथ-साथ अकेले हैं—राग-रोष, लोभ-मोह, काम-क्रोधके षड्‌रिपुओंसे दूर, भीड़में हर गड्डलिका-प्रवाहसे दूर। यह चरम एकान्त है :

"यह तन ताँत रबाव है विरह बजावै नित्त,
और न कोई सुन सके, कै साँई कै चित्त।"

इसमें शापग्रस्तताका भाव नहीं, इसमें ज्वर नहीं, इसमें प्रायश्चित्त नहीं। टैगोर एक ओर अपनेको यक्षपुरीका एकाकी राजा नहीं बनाना चाहते, तो दूसरी ओर नाज़िम हिकमतकी 'व्यक्ति-वर्जित भीड़'का अनाम जीव बनकर जीना भी उन्हें मंज़ूर नहीं क्योंकि यह भी जीवनकी दूसरी हेय स्थितिका प्रतीक है। यह शीर्षहीनोंकी कबन्धपुरी है, उसमें नामहीन, चेहराहीन, व्यक्तित्वहीन केतु रूपमें जीना पड़ता है। टैगोर इन दोनोंको छोड़कर अपने चरम एकान्तका वरण करते हैं जहाँ—और न कोई सुन सके कै साँई वै चित्त।"

पर टैगोरके पास पाँच हज़ार पाँच वर्ष पुरानी सीढ़ी थी। अतः वे सुदूर नील-गर्भके एकान्त विन्दुपर चढ़ गये। पर आज वह सीढ़ी नहीं। नये कविका वरण अधिक दुस्तर है। उसके पास कोई जीवन-देवता नहीं जो हाथ पकड़ वैतरणी पार करा दे। उसका अकेलापन दूसरे क़िस्मका है। वह सम्पाती हैं उसे अकेले-अकेले नील-गर्भमें अपने पंखोंपर उड़ना है। यह उसकी नियति है। उसके पंख जल जायेंगे। यह भी उसकी नियति है। उसे पंखहीन हो निर्वासन भोगना है, यह भी उसकी नियति है। दरअसल टैगोरने साहित्यमें न तो जिज्ञासा उठायी और न उन्हें नया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर खोजना पड़ा। पर नये कविका वरण अधिक दुस्तर इसलिए हो उठा है कि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'के आरामदेह परिवेशको वह अस्वीकार कर नयी जिज्ञासाका जनक बना है। यह उसकी महिमा है। पर जिज्ञासाका उत्तर पानेके पूर्व, सत्यके सूर्यके साक्षात्कार होनेके पूर्व उसके पंख गल गये, वह निर्वासित हो गया, यह उसकी ट्रैजेडी है। इस ट्रैजेडी-की महिमा स्वीकार करते हुए भी लोभी-लालची भीड़ उसे पत्थर मारती है। उसने वादा किया था : "तुम इस सीढ़ीको जला दो, यह पुरानी हो गयी है। बदलेमें मैं तुम्हें सत्यको स्वर्णमंजूषामें बन्द कर ला दूँगा—तुम सत्यको मुट्ठी-मुट्ठी बाँट लेना और धरतीपर ही अमृत होकर विचरण करना। सम्पातीने अपना वादा नहीं पूरा किया। फलत: लोभी-लालची भीड़ उसपर पत्थर मारती है।

पर सम्पातीका यह 'निर्वासन' उसकी नियति होनेपर भी नित्य नहीं है। यह स्थायी स्थिति नहीं। उसके पंख आज नहीं तो कल उगेंगे ही। साहित्यके अन्दर 'निर्वासन' स्थायीभाव नहीं है। स्थायीभाव है 'नित्य अकेलापन' और निर्वासन उसकी एक स्थितिविशेष मात्र है। यह महज एक संचारीभाव है। रतिके संचारीभाव, हर्ष, राग आदि ही नहीं शोक और रोष भी हैं जो विरोधी स्वभावके हैं। इसी भाँति स्वभावविरोधी लगनेपर भी 'निर्वासन' उस नित्य अकेलापनकी पूरक अवस्था है। वर्तमान युगबोधमें निर्वासनका संचारीभाव प्रधान बोध-सा लग रहा है। यह दुःख-मय अवस्था है। पर आनेवाले अनाहूत अनागतके लिए दिशा-निर्देश इसी निर्वासनसे मिलेगा—एक ऐसा दिशानिर्देश जो समुद्रसन्तरण करवायेगा, जो प्रत्यभिज्ञान प्राप्त करवायेगा, स्वर्णपुरीमें क़ैद व्यथापीड़ित सत्योंसे साक्षात्कार करवायेगा; और जिससे साहस और वीरताके विकासके लिए अवसर मिलेगा।

हिन्दीकी नयी कवितामें 'निर्वासन' और 'नित्य अकेलापन' दोनों मन:स्थितियाँ कभी-कभी तो एक ही साथ और कभी-कभी एकके बाद

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एकके क्रमसे आयी हैं। एक ही संग्रहमें एक ओर ऊब, विडम्बना, विसंगति और निर्वासनका भाव है तो दूसरी ओर दुःख, समर्पण, करुणा, उल्लास, जैविक रसबोध, साहस और विद्रोहकी स्वीकारात्मक स्थितियाँ हैं। इससे पता चलता है कि हिन्दी कवियोंने आत्मविश्लेषणके सहायक संचारीके रूपमें ही 'निर्वासन'का प्रयोग किया है। उदाहरणके लिए 'सातगीत वर्ष' में 'नया रस' 'फागुनके दिनकी अनुभूति' पहली स्थितिको व्यक्त करती हैं, तो 'प्रमथ्यु', 'अंजुरी भर धूप', 'घाटीका बादल' दूसरी स्थितिको। यही बात प्रायः प्रत्येक नये कविपर लागू होती है। यह 'नित्य अकेलापन' रचना-प्रक्रियाकी अनिवार्य आवश्यकता है। सृजनके चरम क्षणके अवसरपर नारी, कवि और पैग़म्बर बिलकुल अकेले होते हैं। उनकी सृजन-पीड़ाका साझा कोई नहीं करता, यहाँतक कि टैगोरका जीवन-देवता भी नहीं। वह तो महज़ उपस्थित-भर रहता है। उसकी उपस्थितिसे बल भले ही मिलता है—पर भोगना तो अकेले-अकेले है। पर यह अकेलापन अभिशप्त स्थिति नहीं। वह अकेलापन जो अभिशप्त है, जो सृजनके हेतु नहीं, किसी शापके कारण वरण किया है, जो वन्ध्या दुःख-भोग मात्र है, जिससे किसी अजन्मे 'नये'के जन्मकी सम्भावना नहीं, वह है 'निर्वासन'। यह एक हेय स्थिति है।

मैं 'निर्वासन' बरदाश्त नहीं कर पाता हूँ। अवश्य मुझे अकेलापन चाहिए जहाँ मैं अपने 'स्व'के साथ रह सकूँ। पर मुझे यह पसन्द नहीं कि इस निर्वासनकी पीड़ाको रस मानूँ, अपनेको यक्षपुरीका राजा मानूँ जो अपनी कथा अपनेसे कहता है, जो अपना रुदन अपने ही कानसे सुन सकता है जब कि बाहर-बाहर धरती महारागमें लीन है और एकान्तके चरम क्षणोंका जो जन्म, प्रणय और मृत्युके अवसरोंपर अनुभूत होते हैं, भोग कर रही है। इसीलिए इस ज्वरसे, इस निर्वासनसे मैं मुक्ति चाहता हूँ, विराम चाहता हूँ, क्षमा चाहता हूँ। लगता है कि यह ज्वर, यह निर्वासन मेरे 'स्व'की कोल्हूमें पेर रहा है—मेरी गाँठ-गाँठ टूट रही है।

 प्रिया नीलकण्ठी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुझे अपने 'स्व' के साथ प्रगाढ़ रूपसे जीना है। मुझे इसे गाँठ-गाँठ तोड़ना, विखण्डित नहीं करना है।

कमरेकी खिड़कीसे बाहर पीपलकी हवामें झूमती शाखा दिखाई पड़ रही है। कोमल लाल पत्तियोंका रंग हरिताभ हो चला है। मैं हफ़्तोंसे रंगोंकी वय:सन्धि-लीला देख रहा हूँ। दो हफ़्ते पूर्व पीपल नंगी शाखावाला दिगम्बर अवधूत था। आकाशसे हवा और पानीकी भीख माँगकर खानेवाला नग्न दिग्वासा भैरव! फिर नरम भूरे अंकुरोंसे सारी शाखाएँ भर आयीं। बैंगनी आभा लिये ताम्रवर्णी टूसे निकले। धीरे-धीरे ताम्रवर्णी पत्तियोंसे सारी शाखाएँ भर गयीं। इतनी नरम और पतली पत्तियाँ कि रोशनीके सामने पारदर्शक हो उठती थीं। उनमें धीरे-धीरे हरीतिमा नशेकी तरह प्रवेश करने लगी। पहले नसें हरी हुईं, फिर पत्तियोंके रेशेमें हरियाली घुलने लगी। पेड़ अभी ताम्रवर्णी था, पर हरिताभा ताँबेके रंगको छेदकर झलक उठती थी। यह हरीतिमा नरम कच्ची कुँआरी देहकी तरह थी। श्यामली देहमें उम्र फूटनेके प्रथम चरणमें ऐसी ही कच्ची हरीतिमा फूटती है। फिर इन पत्तियोंके रेशे मज़बूत होते गये, हरीतिमा सघन गाढ़ी होती गयी, ताम्रवर्ण कटता गया और हरे रंगकी ताजी किशोर और दृढ़ पत्तियोंसे सूरजकी रोशनीपर सारा पेड़ झलमला उठा। चीरवासा योगीका भरा-पूरा परिवार फिरसे बस गया। अब उसे ठौर-ठौर निर्वासितकी तरह भीख माँगने, आकाशके सामने हाथ फैलानेकी जरूरत नहीं रही।

चीर-वासा भैरवकी याद आते ही पार्वतीकी याद आ गयी। लगा कि मुक्तिका द्वार धीरे-धीरे खुल रहा है। मनमें वीतराग संन्यासी आदि शंकराचार्यके द्वारा अनुभूत ज्वरकी दवा याद आ गयी :

"वसन्ते सानन्दे कुसुमितलताभिः परिवृते
स्फुरन्नानापद्मे सरसि कलहंसालि सुभगे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सखीभिः खेलन्तीं मलयपवनान्दोलितजले
स्मरेद्यस्त्वां तस्य ज्वरजनितपीडापसरति ।"
—'आनन्दलहरी'

"हे देवी, वसन्तमें खिली लताओंसे मण्डित नाना कमलोंसे, हंसोंकी मण्डलीसे अलंकृत, मलय पवनसे आन्दोलित सरोवरमें सखियोंके मध्य क्रीड़ा करती हुई तुम्हारा ध्यान करनेसे ज्वरजनित पीड़ा दूर होती है।"

'चञ्चलं हि मनः कृष्ण ···।' मुझे बुखार है। पर वायुके समान यह चंचल मन व्यथाकी एक गाँठ ढीली होते ही सप्तावरण भेदकर कौएकी तरह उड़ता-उड़ता पहुँच गया तपोरता अपर्णा उमाके पास। जब-जब मैं बूढ़े विधाताके बारेमें सोचता हूँ तो लगता है उसकी शक्ल-सूरत प्राइमरी स्कूलके मेरे वृद्ध शिक्षक श्री यदुनाथ सिंह-जैसी अवश्य होगी। यह बूढ़ा विधाता मेरे इस नटखट मनसे परेशान है। उसने इस मनको जीवनकी इस कक्षामें किसी अपराधके कारण ज्वरदंशकी सज़ा दी थी, मुर्ग़ा बनाया था,[1]—पर इधर ज़रा उनकी आँख मँजी और इसे ज़रा-सी फाँक मिली कि निकल भागा और दौड़ता-दौड़ता पहुँच गया काल-प्रवाहके आदि छोरपर। उमा तप कर रही है। जटामण्डित शीश, कमलमुख, विलास-चेष्टाहीन पर खिंची हुई कमान-सी ऊर्ध्ववक्र भौंह-रेखाएँ, अधखुली आँख, शान्त सौन्दर्य—'उदकवास व्रत'में लीन, आकण्ठ जलमें डूबी पार्वती। शीतकालकी रात्रि है। उसके अधर पल्लव काँप रहे हैं। शान्त जलमें उसके मुख-छविकी परछाइँ उभर आयी है, जो उसकी ही साँसोंसे थोड़ा-थोड़ा हिल रही है। लगता है दूसरा कमल पानीमें प्रस्फुटित हो गया है। तटके आर-पार चक्रवाक करुण स्वरमें परस्पर 'मेघदूत' बोल रहे हैं।

---

१. एक सज़ा देनेका तरीक़ा। कान पकड़कर धड़को झुकाकर घुटने तक ले आना और उसी हालतमें आधा घण्टा धूपमें खड़ा रहना। मेरे ज़मानेमें इस सज़ाका उपयोग पुलिस-विभाग और शिक्षा-विभाग दोनोंमें होता था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देवीके शान्त मुखमण्डलपर धनुषाकृति भौंहोंके ठीक ऊपर पवित्रता, शृंगार और करुणाका त्रिकोण युद्ध चल रहा है। मेरा नटखट मन चोरकी तरह तटपर छिपा बैठा है और 'कुमारसम्भवम्'का पाँचवाँ सर्ग लिख रहा है।

मुझे धीरे-धीरे नींद आ रही है। लगता है कि भगवान् शंकराचार्यकी दवा काम कर गयी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शमी वृक्ष पर लटकते शव

महाभारतके भाषा संस्करणसे बचपनमें ही मेरा परिचय हुआ। युधिष्ठिरसे तो अपनी दोस्ती कभी नहीं रही। पर अर्जुन-भीमके साथ कहाँ-कहाँ नहीं घूमा! द्वैत वन, बदरी वन, गन्धमादन, देवभूमि, यक्षभूमि, कदली वन, नाग लोक—कहाँ-कहाँ नहीं भटकता फिरा। सव्यसाची तो मेरे आदर्श थे, पर दोस्त थे भीम। ये स्वभावमें कुछ सीधे हैं भी। 'वनपर्व' तो मैं बार-बार पढ़ता था। तभीसे कुछ आरण्यक तबीयतका हो गया हूँ। मुझे छोटी-छोटी ख़ूबसूरत फूलोंकी क्यारियोंकी बनिस्बत जंगलोंके लग्घड़-बेमरम्मत, ऊँचे और उजड्ड पेड़ोंकी पाँतें ज़्यादा मोहक लगती हैं। लगता है, ये सब कमर कसकर खड़े हैं, अभी बाँह उठाकर बोलेंगे: 'इन्क़लाब!' और चल देंगे। मुझे लगता है कि बाग़ोंकी बनी-ठनी लेटी हुई क्यारियाँ और फूलोंकी महफ़िलें कलियुग हैं; ये ध्यानस्थ बैठे गाँवके वट-पीपल द्वापर हैं; पर जंगलोंके ये लग्घड़-बेमरम्मत, उद्दण्ड खड़े पेड़ त्रेता हैं और ये यदि चल देंगे तो सतयुगका साकार रूप सामने आ जायेगा। मैं आरण्यक तबीयत होनेके कारण ही मानता हूँ कि निरन्तर गतिमानता ही सतयुग है। 'चरैवेति चरैवैति' सतयुगका नारा है। इन्द्रने रोहितसे कहा: "जो सोया है, वह कलि है, जो बैठ गया है वह द्वापर है, जो खड़ा हो गया है वह त्रेता है, और जो चल दिया वह कृतयुग है। अतः हे रोहित, निरन्तर चलो, क्योंकि 'चरन् वै मधु विन्दति!' चलनेवाला ही मधु पाता है।" मेरा मधु-लोलुप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मन, मेरा रस-आखेटक मन भी इसीमें विश्वास करता है।

मेरे वनैले आरण्यक मनको वनपर्व बड़ा ही अच्छा लगता था। उसमें कुछ पेड़ोंके नाम बार-बार आते थे, यथा : शमी, अर्जुन, खदिर, देवदारु, शाल और भूर्ज आदि, जिनके सगुण रूपसे मैं सर्वथा अपरिचित था। अर्जुन और शमीके बारेमें मुझमें विशेष उत्कण्ठा थी। मैं सोचता था, अर्जुन कोई योद्धानुमा पेड़ होगा, पर इसकी साफ़ कल्पना नहीं कर पाता था। शमीकी पत्तियोंको अग्नि-जिह्वाएँ कहा गया है, इसका एक नाम अग्निगर्भ भी है। अतः इसकी एक ज्वालामय अग्निवृक्षके रूपमें मैंने कल्पना कर डाली थी। मेरा अनदेखा, अनचीन्हा, कल्पित शमी बहुत-कुछ हज़रत मूसाकी उस 'जलती झाड़ी'की तरह था, जिसके पीछे प्रभुने प्रखर तेज वृत्तके रूपमें अपना दर्शन दिया था। प्रकाशकी धारामें निरन्तर स्नान करती हुई उस झाड़ीसे मूसाको दस दैवी आदेश मिले। मूसा प्रभुके प्रखर तेजको एक क्षणसे अधिक बरदाश्त नहीं कर सके। बन्द आँखोंसे उन्होंने परम-पिताका अग्निवाही सत्य ग्रहण किया। लौटे तो कुछ क्षणों पूर्व ही काले बाल अब बिलकुल सफ़ेद हो चुके थे। देवताकी आँचका स्पर्श पाकर तन-मन और वाणी तीनों कुछ क्षणोंके मध्यान्तरमें ही पकहर और सतोगुणी बन गये। हिब्रू साहित्य इसी अर्थमें पैग़म्बरोंके होठोंको 'अग्नि-चुम्बित होठ' कहता है। पर मेरी कल्पनाका अग्निगर्भ शमी मुझसे कभी बोला नहीं, मुझे कोई आदेश नहीं दिया और न मैं ही उससे पिताका अग्निवाही सत्य माँगने गया। मैं मनमौजी जीव ठहरा। मैं इस धरा-धाममें मौज लेनेका विश्वासी हूँ। मैं इस पैग़म्बर भूमिकाकी याचना क्यों करूँ? वनपर्वमें पढ़ा कि विराट् नगर प्रवेश करनेके पूर्व पाण्डवोंने अपने हथियार शमी वृक्षकी ऊँची शाखाओंके मध्य रख दिये और ऊपरसे एक मुरदा लटका दिया। इस रोमांचक दृश्यकी कल्पना मैंने अपने बाल-मनमें सैकड़ों बार की होगी। 'शल्य पर्व'में पढ़ा कि भृगुके शापके डरसे अग्नि शमीमें छिप गये। फिर 'अनुशासन पर्व'में पढ़ा कि शिवके तेज (वीर्य)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को वहन करनेमें असमर्थ अग्नि पहले जलमें छिपे, फिर पीपलके पेड़में और अन्तमें शमी वृक्षमें। वहाँ एक सुग्गेने उनका पता देवताओंको बता दिया। प्रजा तेज और ऊष्माके अभावमें हाहाकार कर रही थी। देवताओं-ने अग्निको शमीसे बाहर निकाला और शमी वृक्षको अग्निका पवित्र वास-स्थान नियत किया। इसीसे इसे 'अग्निगर्भ' कहते हैं। इन सब प्रसंगोंको पढ़कर ही मैं शमी वृक्षके प्रति बालसुलभ कुतूहलसे आकर्षित हुआ था।

महाभारत एक कवि-द्वारा नहीं, कवियोंकी एक परम्परा-द्वारा रचित है। अतः 'शल्य' और 'अनुशासन'के मिथकोंमें भेद आ गया है। परन्तु निष्कर्षमें समानता है। दोनोंके अनुसार शमी वृक्ष 'अग्निगर्भ' है। कालिदासने 'शाकुन्तल'में इसी परम्पराका उपयोग किया है। प्रियंवदा कण्वके तीर्थयात्रासे लौटनेपर बताती है : "हे ब्राह्मण, जैसे शमी अग्निको धारण किये है वैसे ही तुम्हारी कन्याने प्राणियोंके मंगलके लिए दुष्यन्तका तेज धारण किया है।

"दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः
अवेहि तनया ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव।"

—'अग्निगर्भ' के अतिरिक्त कोशकारोंने इसे ईशानी, पार्वती, शिवा, सुपत्रा, मंगल्या आदि कहकर सम्मानित किया है। यह साक्षात् पार्वती रूप है, क्योंकि अग्निके माध्यमसे इसने कुछ काल तक शिवके तेजका वहन किया था। अग्निगर्भ होनेसे यज्ञकर्मकी आवश्यक समिधा है। 'ईजे यज्ञेभिः शशभ शमीभिः' (ऋग्वेद ६।२।२)। स्वयं विष्णु ही 'यज्ञ' हैं। अतः कोशकारोंने 'हविर्गन्धा' और 'लक्ष्मी' दो और पर्याय दिये हैं। परन्तु इन सब बातोंसे मेरा परिचय बादमें हुआ। उस बनैले आरण्यक मनसे इन भारी-भरकम तथ्योंका कोई वास्ता नहीं। मेरा आरण्यक मन शमीकी ओर दो कारणोंसे ही आकर्षित था। एक तो विराट् पर्व वर्णित शमी वृक्ष, उसपर रखे हथियार, जो किसी ग़ैरके पास जानेपर सर्प बनकर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

फुफकार उठते थे, और उसकी एक डालपर लटकता मुरदा एवं मुरदेके नीचे भयानक अन्धकूप—इन सब बिम्बोंके सम्मिलित रोमांचक प्रभावके कारण। दूसरा कारण था इसके भीतर आगके निवास होने और पत्तियोंके ज्वालावर्णी होनेका वर्णन, जो एक विचित्र कुतूहलकी सृष्टि करता था।

बादमें शमी देखनेका मौक़ा मिला। मेरा तात्पर्य उस वृक्षसे है, जिसे असम प्रदेशमें 'शमी' कहकर पुकारा जाता है। अशोक, शमी आदि वृक्षोंके बारेमें साधारणतः सम्पूर्ण भारतमें मतैक्य नहीं। उत्तर प्रदेशमें जिस लहरदार पत्तेवाले पेड़को अशोक कहते हैं, उससे भिन्न अशोक असम-बंगालमें देखा है। और लगता है कि यह पूर्वांचलका अशोक ही 'सुन्दर काण्ड'में वर्णित रक्तपीत अग्निवर्णी पुष्पोंसे लदा हुआ अशोक है, जिसके बारेमें मोनियर विलियम्सका दावा है कि वनस्पति जगत्में इससे सुन्दर और अपूर्व कृति विधाता सृजित नहीं कर सका है। अतः यह मेरा शमी और जगहोंका स्वीकृत शमी है या नहीं, यह मैं नहीं जानता; परन्तु इस असम प्रदेशका यही शमी है। मेरे कमरेके सामने ही तीन पेड़ एक पाँतमें खड़े हैं—अर्जुन, शमी और वट। तीनों अभी किशोर वयके हैं। अर्जुन वृक्षको भी मैं यहींपर आकर पहचान पाया हूँ। पता नहीं इसे क्यों अर्जुन कहते हैं। इसमें योद्धानुमा कुछ भी नहीं। अर्जुनका एक अर्थ होता है श्वेत। परन्तु महाभारतके श्यामवर्ण अर्जुनकी तरह यह भी श्याम-हरित पत्तोंसे लदा एक सघन-झमार पेड़ है। यह अर्जुन मेरे कमरेके सामने वट-शिव और शमी-पार्वतीके सम्मुख छहों ऋतुएँ और बारहों महीने भक्तिभाव-से खड़ा है और मैं साँझ-सवेर बरामदेमें बैठा-बैठा इस किरातार्जुनीयम्-को रसपूर्वक देखता रहता हूँ।

परन्तु मैंने जिस तेजपुंज दिव्यवृक्षकी कल्पना कर रखी थी, वैसा कुछ वास्तविक शमीमें मिला नहीं। दूरसे लरछेदार पत्तियों और सफ़ेद तनेकी वजहसे यह आँवलेके पेड़-जैसा लगता है। पर पास जानेपर इसके दृढ़ मज़बूत चपटे काँटों और चपटी फलियोंको देखकर यह बबूल जातिकी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वनस्पति ज्ञात होता है। फूलोंकी हरिताभ श्वेत मंजरी होती है, तुलसीकी मंजरीके दूने आकारकी। फलियोंमें बबूलकी फलियोंकी तरह ही बीज होते हैं। तनेकी ऊपरी छाल अत्यन्त नरम होती है और नरम शाखाओं तथा किशोर तनेसे नाखूनके द्वारा ही इसकी परतें उभाड़ी जा सकती हैं। भूर्जपत्रकी तरह पतली महीन काग़ज़ी परतें एकमें एक लिपटी रहती हैं। भूर्जपत्रमें ये परतें कुछ लम्बी-चौड़ी होती हैं, शमीमें ये दो अंगुल बाद ही टूट जाती हैं। अतः कोई किन्नरी या विद्याधर इसकी छालको प्रेमपत्र लिखनेके लिए नहीं ले जाता है, जैसा कि भूर्जपत्रके बारेमें कालिदासने प्रसिद्ध कर दिया है। पर इसकी छाल और इसकी लकड़ी आग बड़ी तेज़ीसे पकड़ती है। पेड़में कोई दिव्यताका लक्षण नहीं। हाँ, बरसातमें इसकी पत्तियों और फूलोंका दृढ़ मंजरीनुमा 'छन्द-बन्ध' तथा तीव्र धानी रंग एक प्राणवान् दृश्यकी रचना करते हैं। धानी हरा किशोर वयका प्रतीक है। यों भावात्मक दृष्टिसे प्रकाशका रंग भी हरा माना गया है। सूर्यके एक घोड़ेका नाम 'हारीत' है और सूर्यस्तोत्रमें हम प्रतिदिन पाठ करते हैं : "ॐ नमो हरितवर्णाय सुवर्णाय च नमो नमः।" तेज हरीतिमा और प्राणके बीच न केवल भावात्मक बल्कि जैविक (बॉयोलॉजिकल) सम्बन्ध भी है।

जब-जब मैं शमीके बारेमें सोचता हूँ तो लगता है कि यह आत्मतेज धारण करनेवाली हमारी जातीय संस्कृतिका प्रतीक है। यह संयोगकी बात नहीं कि कालिदासने शकुन्तलाकी तुलना अग्निगर्भ शमीसे की है। महाकविने बड़ी ही सावधान मनोदशामें उस उपमाका अर्जन किया है। जिस तेजको शकुन्तलाने धारण किया था, उससे 'भरत' का जन्म हुआ और इसी भरतसे इस देशको अपना नाम 'भारत' मिला। आजका भारत ऋषियोंका आर्यावर्त्त नहीं। यह वह भारत है, जिसकी धर्मसाधनाका अन्तिम विकसित रूप महाभारतमें मिलता है और यह महाभारत हम करोड़ों 'भारतों' का जातीय महाकाव्य है, जिसके नायक श्रीकृष्ण हैं, इन्द्र,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अग्नि या वरुण नहीं। इस भारतमें आर्योंकी अग्नि (हवन) और द्रविड़ोंके जल (तीर्थम्), आर्योंके चिन्तन और द्रविड़ोंकी भावुकताको समान स्थान मिला है। इस महाकाव्य महाभारतके पात्र हैं भरतवंशीय पुरुष गण, जिनके प्रथम पुरुषकी जननी थी शकुन्तला। अत: शमी और शकुन्तलाकी तुलना बड़े ही सावधान मनसे की गयी है। शमी भारतवर्ष-की अस्मिता और आत्मतेजका प्रतीक है। भारतवर्षकी यह अस्मिता निरन्तर विकासमान और प्रवाहशील रही है। इस निरन्तर विकासमानता-को ही सनातन प्रवाह मानकर इसे सनातन धर्म कहा गया है। सनातनका अर्थ जड़, स्थितिशील या अपरिवर्त्तनवादी नहीं है। यह सनातन इसी अर्थमें है कि इसका प्रवाह निरन्तर और अविच्छिन्न रहा है और इसका आन्तरिक रूप ऐसा है कि बाहरी रूपान्तरके बावजूद यह अपने पूर्व और उत्तरकालीन रूपोंसे अविच्छिन्न और एक होकर निरन्तर चलायमान है।

परन्तु आज स्थिति भिन्न है। पुरोहित वर्गके जड़ी-भूत चिन्तनने सनातनको ग़लत अर्थमें पकड़ा है। उनके अनुसार सनातनका अर्थ है जड़ता, अगति-अपरिवर्तनवादिता और स्थितिशीलता। उन्होंने शब्दके सतही अर्थको रटकर इसे जड़ीभूत और प्रेरणाहीन बना दिया है, और इसी सतही अर्थमें धर्मके नामपर जो कुछ बाज़ारमें चल रहा है, वह सम्पूर्णत: मरणकी उपासना है, अविद्या है, हमारी राष्ट्रीय अस्मिताके लिए एक आत्मघाती रास्ता है। इस वर्गका धार्मिक नेतृत्व जितना ही जल्दी समाप्त हो, उतना ही अच्छा है।

भारतीय अस्मिताका विकास एक अविच्छिन्न सनातन प्रवाहके रूपमें हुआ है। वैदिक प्राणवादसे निकला उपनिषदोंका अन्तर्मुखी चिन्तन और आत्मवाद। यह आत्मवाद 'श्वेताश्वतर' तक आते-आते शैव और वैष्णव धर्म-दर्शनका रूप लेने लगा। यह अन्तर्मुखी चिन्तन मूलत: वैदिक बाह्याचारके प्रति 'सजातीय विद्रोह' था जबकि सांख्य, बौद्ध और जैन 'विजातीय विद्रोह' थे। इस सजातीय विद्रोहका उच्चतम रूप महाकाव्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महाभारतमें व्यक्त है और यह पौराणिक हिन्दू धर्मके रूपमें स्थिर होता है। फिर कालान्तरमें द्रविड़ भावुकताके संयोग और बौद्ध धर्मके घात-प्रतिघातसे इसमें भक्ति आकर मिलती है। इसके दो रूप होते हैं—आचार्यश्री लोगोंकी कट्टर वैष्णवता और सन्तों तथा भक्तोंकी उदार वैष्णवता। फिर १९वीं शतीका महाजागरण आता है, जिसमें सन्तोंकी उदार वैष्णवताको विकसित करके महात्मा गान्धी और दयानन्द आदि सामाजिक स्तरपर सनातन धर्मका पुनर्गठन करते हैं। और राममोहन-विवेकानन्द-तिलक प्रभृति प्रस्थानत्रयीकी पुनः व्यवस्था करके बौद्धिक स्तरपर जातीय मानसका पुनर्गठन करते हैं। आजका 'नया हिन्दू' १८वीं या १९वीं शतीके पुराणपन्थी हिन्दूसे बिलकुल भिन्न है। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक अविच्छिन्न प्रवाह चल रहा है। ऋग्वेद-उपनिषद्-व्यास (ब्रह्मसूत्र, और महाभारत)–शंकराचार्य–रामानुज–चैतन्य–कबीर–तुलसी–तिलक–गान्धी–दयानन्द! इन सबमें एक सनातन तथ्य निरन्तर चल रहा है–जिसे उचित शब्दके अभावमें 'श्रुति' कह सकते हैं, जिसे मोटे तौरपर 'वेदान्त' कहते हैं। इस देशमें वही आन्दोलन सफल हुआ है, जिसने प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता) का आधार लिया है। गत 'अभिनव हिन्दू आन्दोलन' या राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन इसका अपवाद नहीं। और मेरा विश्वास है कि यदि समाजवादको इस भूमिमें सफल होना है, तो उसे प्रस्थानत्रयीसे मुहर लेनी ही होगी। वेदान्त इतना व्यापक दर्शन है कि उसके हृदयमें सब-कुछके लिए स्थान ढूँढ़ा जा सकता है।

परन्तु इस मूल अविच्छिन्न सूत्र वेदान्त (श्रुति) को छोड़कर शेष सब-कुछ निरन्तर परिवर्तित होता रहा है। स्मृति यानी समाजशास्त्र निरन्तर परिवर्तनशील रहा है। ऐसी ही घोषणा विवेकानन्दने की थी: "श्रुति सनातन है, पर स्मृति परिवर्तनशील है।" वेदान्त स्वयं कहता है, आत्मा ही परिवर्तनसे परे है, देहका जन्म-जन्मान्तरमें रूपान्तर होता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहता है। आदि शंकराचार्यने बृहदारण्यककी टीका लिखते हुए एक स्थलपर कहा है—"न आसीत् पुरा क्षत्रियादि-भेदः।" मनुस्मृतिके अलावा अन्य अनेक स्मृतियोंके नाम आते हैं। जाहिर है कि वे भी कहीं और कभी चलती रही होंगी। तब मनुस्मृति अपरिवर्तनीय कैसे हुई? परन्तु जड़ पुरोहित वर्ग सनातनके इस गतिशील अर्थको स्वीकारनेके लिए तैयार नहीं।

पुरोहित वर्ग न केवल 'सनातन' का अर्थ लगाता है, 'जड़' 'गतिहीन' यानी 'मुरदा'; बल्कि बाह्याचारोंको और अविद्याको ही धर्मके नामपर दुनिया-भरमें बेचता है। बुद्धने इन्हें पहचाना और इनका तिरस्कार कर दिया। कृष्णने इन्हें पहचाना और इन्हें घसीटकर भागवत धर्मके मार्गपर चलाया। पर ये घूम-फिरकर बाह्याचारपर ही आ गये। 'फिर वैतलवा डालपर'। उदाहरणके लिए वैदिक धर्म-साधनाको लें। प्रारम्भिक वैदिक धर्म कल्पप्रधान और सकाम था। वैदिक ऋषियोंकी साधना प्राणवादी थी और प्राण-साधनाके लिए सकाम उपासना आवश्यक है। उनकी वाणी पौरुषमयी थी और वे कुण्ठाहीन भावसे धन, नारी या शत्रुनाशके लिए देवगणोंकी प्रार्थनामें मन्त्र गाते थे। इस साधनाके सामूहिक कल्पको 'यज्ञ' कहते थे। परन्तु उपनिषदों तक आते-आते यज्ञका बाह्याचारी कर्मकाण्डी अर्थ उपेक्षाका पात्र हो गया और 'यज्ञ'को 'जीवनयज्ञ' या निष्काम आत्म-मेधके रूपमें लिया जाने लगा। पुरुष-मेध आदि प्रकरणोंका यही अर्थ है। पुरुष-मेध अर्थात् कामना आश्रित व्यक्तित्वका मेध और निष्काम व्यक्तित्व-की प्राप्ति। इसका चरम रूप महाभारत और गीतामें विकसित हुआ। श्रीकृष्णका निम्नलिखित आदेश बताता है कि भागवत-धर्म कर्मकाण्ड-प्रधान वैदिक साधनाके प्रति स्पष्ट 'विद्रोह' है:

"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन!
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः" (गीता २।४५-४६)

(हे अर्जुन, वेद तीनों गुणोंकी शिक्षा देते हैं, परन्तु तुम गुणोंका अतिक्रमण करके गुण-निरपेक्ष कर्म करो। तुम द्वन्द्वरहित, सत्त्वस्थ, योग-क्षेमकी चिन्तासे परे, आत्मपरायण बनो। जिस प्रकार चारों ओरसे भरे-पूरे जलाशय पानेपर, छोटा जलाशय अर्थहीन हो जाता है, वैसे ही ब्रह्मवेत्ताके लिए वेद प्रयोजनहीन हैं)—महाभारतके बाद श्रीकृष्णने जिस धर्म-व्यवस्थाकी स्थापना की है, वह वैदिक कर्मकाण्डसे विकसित, परन्तु अधिक ऊँची धर्म-साधना है। उसमें यज्ञ आदि बाह्याचारोंका कोई अर्थ नहीं। वैष्णवतामें यज्ञको बाह्य रूपमें न लेकर सदैव प्रतीकात्मक या भाव रूपमें स्वीकृत किया गया है।

परन्तु जब-जब इस देशमें अकाल और सूखा पड़ता है, आचार्यश्री लोगों-द्वारा 'वैष्णव यज्ञ' धूमधामसे सारे देशमें कराया जाता है। एक ओर एक मुट्ठी अन्नके अभावमें बच्चे छटपटाकर मरते हैं, जीवन हाहाकार करके प्राण त्याग करता है, तो दूसरी ओर धनीधोरियोंके पैसेके बलपर अविद्याकी अग्नि हाहाकार करके जलती है, अन्न आर्त्तनाद करके ज्वालाका वरण करता है, एवं इस वर्गकी पाँचों उँगलियाँ घीमें रहती हैं। एक ओर 'इदं इन्द्राय न इदं मम' और दूसरी ओर दक्षिणाके लिए डोमकचई! परन्तु तथ्य तो यह है कि वैष्णव साधनाका चरम विकसित रूप भक्ति और सन्तोंका मानववाद है और उसमें यज्ञको कोई जगह नहीं। वैष्णव धर्म प्रारम्भिक रूपमें वैदिक धर्मकी एक शाखामात्र था और विष्णु इन्द्रादि देवोंके समकक्ष एक देवता थे। उनके रूपको उदात्त करते हुए कहा गया: 'यज्ञो वै विष्णुः' और उस आदिम या प्रारम्भिक वैष्णवतामें यज्ञ स्वीकृत है। भागवत धर्म आदिम वैष्णवताके साथ प्रवाहकी अविच्छिन्नता स्वीकार कर लेनेके कारण यज्ञोंका उग्र विरोधी कभी नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहा। परन्तु इसके चरम रूपमें यज्ञको कोई स्थान नहीं। यह तो भाव-साधना है। जो आदिम और अनुपयोगी है उसे त्याग देना होगा।

मैं धर्मकी आवश्यकताको स्वीकार करता हूँ। जिस प्रकार एक संविधान चाहिए, एक सरकार चाहिए वैसे ही एक धर्म तो चाहिए ही। बिना इसके समूहका काम चल नहीं सकता। धर्महीनता, नास्तिकता और प्रौढ़ बुद्धिवाद दो-चार व्यक्तियोंके जीवनमें भले ही सफल हो, परन्तु समूहके मनोविज्ञानके यह विपरीत है। एक राहुल, एक नरेन्द्रदेव या एक नेहरूके लिए जो ठीक है, वही धर्महीनता विशाल जनसमूहके लिए अप्राकृतिक है। कभी भी सारा विशाल जनसमूह 'बुद्धिवादी' नहीं बनाया जा सकता है कि 'धर्म'की जरूरत ही न रहे। जो बुद्धिवाद एक प्रतिशतके लिए ठीक है, वह शत-प्रतिशतपर लागू किया जाये, ऐसा निर्णय लेना मूर्खता है। जहाँ-जहाँ यह किया गया है, वहाँ पार्टीका अधिनायक ही 'ईश्वर' बन गया है अथवा कोई विदेशी जीवनदर्शन उस रिक्तताको भरनेके लिए आ गया है। 'समर्पण भाव' और 'अध्यात्म-पिपासा' समूहका सनातन मानसिक आग्रह रहा है। समूहका काम न तो कोरे बुद्धिवादसे चल सकता और न कोरे वैज्ञानिक मानववादसे, जो अध्यात्म-निरपेक्ष होता है। अतः एक धर्म चाहिए और अध्यात्मसापेक्ष धर्म चाहिए।

इस सिलसिलेमें चीनका उदाहरण ले सकते हैं। चीनके पास अपना कोई निजी अध्यात्म-सापेक्ष धर्म नहीं था। लाओत्सेका 'ताओ'-मत एक गुह्य रहस्यवादी साधना है। वह जनधर्म बननेकी क्षमता नहीं रखता। कनफ़्यूशियसके पास अध्यात्मशास्त्र नहीं। वह मानववादी नीतिशास्त्र (स्मृति) को प्रदान करता है, पर आध्यात्मिक 'दर्शन' (मेटाफ़िजिक्स) उसके पास नहीं है। फल होता है आध्यात्मिक और दार्शनिक रिक्तता और इस रिक्तता (शून्य स्थान) को भरने एक विदेशी बौद्ध धर्म आ जाता है (देखिए डॉ० राधाकृष्णन : 'इण्डिया ऐण्ड चाइना') यहाँपर इतना ही संकेत कर देना पर्याप्त है कि सनातन धर्ममें अविद्याकी उपासना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भीतर-भीतरसे तथा अखिल भारतीय राजनीति-शिक्षानीति बाहर-बाहरसे एक आध्यात्मिक और दार्शनिक रिक्तताकी सृष्टि करते जा रहे हैं। इससे न केवल राष्ट्रीयताके लिए महान् खतरा है, बल्कि हमारे राजनीतिक और सांस्कृतिक व्यक्तित्वके विकासका मार्ग ही अवरुद्ध होने जा रहा है।

जिसे हम हिन्दू धर्म कहते हैं, जो बौद्ध, जैन, सिख और सनातन सम्प्रदायोंकी सामूहिक संज्ञा है, हिन्दुस्तानकी प्रतिभाकी उपज है और हिन्दुस्तानकी जिजीविषासे इसका जैविक सम्बन्ध है—यही है जो हमें आसेतु हिमांचल बांधे है, धारण किये है, साथ-साथ चला रहा है। जहाँ यह कमज़ोर है वहाँ हिन्दुस्तान कमज़ोर है। जहाँ यह बिखर गया वहाँ हिन्दुस्तान बिखर गया। यह इतिहासका महासत्य है। और यह महासत्य गरजकर अपनी माँग सामने रखता है कि यदि राष्ट्रका मानसिक, आध्यात्मिक और बौद्धिक स्वास्थ्य ठीक रखना है, तो इस हिन्दुधर्मको स्वस्थ करो। चाहे समाजवाद हो या प्रजातन्त्र, इस महासत्यसे टकरानेकी अपेक्षा 'श्रुति' को स्वीकार करते हुए रूपान्तरित संशोधित हिन्दुत्वके साथ सन्धि कर ले, तभी कल्याण है, क्योंकि यह हिन्दू धर्म हिन्दुस्तानकी जिजीविषाकी माँग है। इसे नष्ट, विकृत या भ्रष्ट करनेके भीतरी या बाहरी प्रयत्नका अर्थ होता है हिन्दुस्तानकी जिजीविषाको नष्ट, विकृत या भ्रष्ट करनेका प्रयत्न।

आज इस तेजगर्भ शमीके गलेमें विधि-निषेधोंके, पुरोहिती अविद्याके और जड़ीभूत चिन्तनके शव लटक रहे हैं। समय आ गया है कि हिन्दुस्तानी सव्यसाची इन मुरदोंसे इस तेजगर्भ शमीको मुक्त करे और सृजनका विराट् धनुष पुनः धारण करे। मैं उस दिनकी प्रतीक्षामें हूँ जब तेजपुंज शमी पुनः शव-मुक्त होगा और शकुन्तला-रूपिणी भारतीय संस्कृति पुनः शापमुक्त होगी।

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बहुरूपी

कुछ साल पहले 'मासानां मासोत्तमे मासे मार्गशीर्षे' यानी अगहनमें बहुरूपियोंका दल हर साल हमारे देहात-जवारमें आता था। उन दिनों अगहनमें घर-घरमें ईश्वरका निवास था, कूँड़े-कूँड़ेमें बाजरा और गोले-गोलेमें धान रहता था। ग़रीबी तो तब भी थी, पर दो-तीन महीने अगहन-पूस-माघ तो चैनसे कट जाते थे और फागुनमें भी गुज़र-बसर हो ही जाती थी। फिर पवित्र चैत्रकी शरण मिल जाती और वसुन्धरा खेत-खेत, दियारे-दियारेमें गेहूँ-जौके रूपमें जानदार सोनेकी फ़सल तैयार कर देती। फिर तीन-चार मासके लिए अमीर-ग़रीब सबकी चल जाती। वर्षाके चार मास अवश्य ग़रीबोंकी मौत तब भी थे और अब तो कुछ पूछना ही नहीं है। लोगोंका विश्वास है कि वर्षाके चार मास धाता विष्णु सो जाते हैं और कार्तिककी देवोत्थान एकादशीको उठते हैं। इन दिनों संन्यासी चातुर्मास्य बिताते हैं और मज़दूर-किसान उपवास करते हैं। कार्तिकके बाद मार्गशीर्ष आता है। मार्गशीर्ष स्वयं धाता विष्णु हैं। 'मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः।' (गीता, १०।३५) साफ़ निर्मल सुसभ्य शरद बीत चलता है; और सवेरे-साँझ वातावरण नम और आसमान ओस-भीगा हो उठता है। किरणें नरम-मुलायम और गुनगुनी बन जाती हैं। सूर्य पूर्वमें जेठ-वैशाखकी भाँति साँड़की तरह हँकड़ता हुआ आसमानमें नहीं चढ़ता, बल्कि फूलकी तरह उगता है और पालतू मृगछौने-सा कोमल कच्ची नज़रोंसे धरतीकी ओर देखता हुआ धीरे-धीरे नभ-मेरु-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का आरोहण करता है। इस अगहनमें माठ-मैदान सूना पड़ जाता है और खाली खेतोंमें किसान बैलोंको टिटकारता हुआ जुताई-बुवाई शुरू कर देता है। उन दिनों लगता है—खेत-खेतमें ईश्वरके भाई फक्कड़ हलायुध सहस्रशीर्ष बलराम, अवतार ले लिये हैं और सहस्रबाहु सहस्रपाद बनकर धरतीका कौमार्य भंग कर रहे हैं, जिससे यह धरती फागुन-चैतमें जानदार सोना उत्पन्न कर सके। ऐसे मासोत्तम मार्गशीर्षमें उन दिनों हर साल बहुरुपियोंके दल, आल्हा-गायकों, नटों और कलाबाजोंकी टोलियाँ तथा यायावरों और जोगियोंकी भीड़ हमारे जवार-देहातमें घूमती थी और गाँव-गाँवमें 'किसान राजा'से एक मुट्ठी अन्नका आशीर्वाद माँगती थी और विमुख कभी नहीं लौटती थी। हमारे चेखुरी पण्डित भी जो अपने नामको शुद्ध करके 'श्री चक्षुरी नारायण चतुर्वेदी' कहकर उच्चारित करते हैं, बहती गंगामें हाथ धोते थे और चण्डी-थानपर एक मास भागवत-कथाका संकल्प गाँव-भरसे करा ही लेते थे।

मार्गशीर्षकी इस समूची शोभा-यात्रामें बहुरूपियोंका दल ही हमारे आकर्षणका विषय था। उन दिनों लगता था कि ये सभी देव-लोकके प्राणी हैं, इच्छा वपु धारण करनेवाले कामरूपी विद्याधर हैं। गाँवमें रामलीला होती थी, पर उसके पात्र 'राम-रज' पोतने और चेहरा लगानेके बावजूद भी पहचाने जाते थे कि ये अमुक हैं और यह अमुक हैं। परन्तु इन इच्छा-वपुधारी जीवोंको तो देखकर सन्देह ही नहीं होता था कि ये अवास्तविक हैं। पहले दिन जो बहुरूपिया आता, वह वीणाधारी सिद्धके वेशमें आता और हमें वह सचमुच जगत्-कल्पवृक्षरूप देवर्षि नारद ही ज्ञात होता था। उसके मुँहसे जान-बूझकर किया गया विकृत उच्चारण 'सेत्ता राम! सेत्ता राम!' ही हमें अलौकिक और अनुकरणीय ज्ञात होता था। दूसरे दिन दो किशोर बालक वैष्णव तिलक लगाये, भगवा बाँधे, भिक्षा-पात्र लिये नर और नारायणका वेष सजकर निकलते और हमें लगता कि साक्षात् ऋग्वेद और सामवेद साथ-साथ चल रहे हैं। फिर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हम लोगोंकी जमात अपने समवयस्क नर-नारायणके पीछे लगती और हम लोग मोहमुग्ध-से साथ-साथ चलते। यदि कोई कुत्ता भूँकता, तो उसे तत्काल दण्डित करते और प्रत्येक लड़का रो-गाकर यही कोशिश करता कि उन्हें अधिकसे अधिक अन्न अपने घरसे दिलाये। हमारी अकारण सहानुभूतिपर घरके लोग कुढ़ते। दूसरे दिन 'राजा इन्द्रकी मालिन' बनकर कोई पहुँचता। झकाझक बेल-बूटेदार सस्ती हरी साड़ी और रोल्डगोल्डसे सज्जित मालिन द्वार-द्वारपर त्रिभंगिमामें खड़ी होती और विचित्र-विचित्र संवाद बोलती तथा कलके कुढ़नेवाले बड़े-बूढ़े उसके पाउडर-पुते चेहरेपर बाग़-बाग़ हो जाते और इकन्नी-दुअन्नी क्या, पम्बू दादा-जैसे लोग चवन्नी तक न्यौछावर कर देते। हमें अत्यधिक आश्चर्य होता—जब कोई कहता कि अरे, यह तो वही परसोंवाला 'सेत्ताराम' है।' इस तरह वह 'सेत्ताराम' बहुरूपिया और उसके दो बेटे क़रीब पन्द्रह दिन तक तरह-तरहके वेष धारण करके आते। आख़िरी दिन तो उनकी सर्वोत्तम भूमिका होती और इस दिन 'सेत्ताराम' की बहू भी साथ-साथ रहती। यह भूमिका होती शुक-सारिका—तोता-मैनाकी। शुक हरी चपकन, हरी धोती, हरी पगड़ी और लाल कमरबन्दपर सुग्गेका 'चेहरा' यानी 'मुखोश' लगाये चलता और साँवली सारिका पीली चोली और पीले छींटेवाली बादामी-भूरी साड़ी पहनकर माथेपर झकाझक तारेकी तरह चमकती टिकुली लगाकर बिना किसी मुखोशके, चलती। लोग कहते, "क्यों रे, आज तो बहूको मैना बना दिया!" मैना बहू सिर नीचा कर मुसकराती, पर तोता कहता, "कौन कहता है बाबू, मैना! अरे कौआ है कौआ!" और शुरू होता रसपूर्ण संवाद!

मैनाबहू कहती : "यह है तोता जैसे हरी घास का खोंता।
मैं हूँ मैना, मोरे हैं रसभरे बैना॥"

तोता बोलता : "चुप रह काली-कलूटी, ज़बान की खोटी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिल की छोटी, अकल की मोटी।
और दिन-भर में खाती है पचीस रोटी ॥"

अन्तिम वाक्यको सुनकर हम लोग बड़े खुश होते। पर मैना नहलेपर दहला मारती :

"चुप रह तोता; बेवक़ूफ़ का पोता !
ज़बान चलाता है जैसे सरौता।"

और इस तरहकी कुछ ऊटपटांग कहा-सुनीके बाद तोता अथवा मैना अपनी बारीके अनुसार औरत या मर्दकी बेवफ़ाईपर एक क़िस्सा कहते। एक कहता जाता और दूसरा बीचमें ठिठोली करता। जनता रस लेती, मजाक़ करती और ख़ुशी-ख़ुशी पैसे देती। अन्तमें शुक कहता : "मेरी प्यारी मैना ! चल, बहुत टें-टें कर लिया।" चेखुरी पण्डितको 'भागवत' याद आ जाता और इकन्नी बढ़ाते हुए मुसकराकर कहते, "हाँ भाई, सुग्गेका काटा फल मीठा होता ही है।"[1] सुनकर कोई बूढ़ा मचलते हुए कहता, "तो कहींसे एक पिंजड़ेका जुगाड़ करो न, पण्डित।" और बूढ़ेके चेहरेपर अकाल वसन्त छा जाता, आँखोंमें आमके बौर गदरा जाते और मनमें अरहरके अमार घने खेत उग आते, जिसमें कोई सुप्त मैना चहक उठती। दूसरे ही क्षण वह बूढ़ा सब-कुछ दबा जाता, सारा दर्द पी जाता और वसन्तका झटका, सनातन पतझारमें विलीन हो जाता। किसीको पता भी नहीं लगता कि मनकी ऊसर परतीमें अभी-अभी एक हरा बिरवा उगा था ! तोता और मैना इस चौपालसे उस चौपाल तक चलते और पीछे-पीछे चलता बच्चों तथा नवयुवकोंका दल। वही संवाद पर कहानी दूसरी। बच्चोंको तोता जँचता था और वे खुले आम उसका पक्ष लेते थे,

---

१. निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः। (श्रीमद्भागवत)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तो युवजन मन-ही-मन मैनापर मरते थे ! अपनी-अपनी भूख और अपना-अपना स्वाद !

यह उन दिनोंकी बात है, जब मैं गाँवमें रहता था। तब गाँव, विदेशी शासन और महायुद्धके बावजूद भी अपेक्षाकृत खुशहाल थे। अफ़सरोंसे लोग डरते थे, पर अफ़सर भी ऊपरवालोंसे डरते थे और ऊपरी स्तरपर व्याप्त भ्रष्टाचारके बावजूद भी जिलास्तर-पर धर्मदण्ड और राजदण्ड बिलकुल बेअसर नहीं हुए थे। यह सही है कि भ्रष्टाचार और मँहगाई, दोनोंके बीज अँगरेज़ बोकर गये। परन्तु इनकी प्राथमिक अवस्थामें ही राष्ट्रीय शासनकी स्थापना हुई। पर ये घटनेके बजाय बढ़े। काले कुत्तोंने सफ़ेद कुत्तोंको भी मात कर दिया। गाँवोंका सहज मन असहज और विषाक्त हो उठा। अब वे पुराने बहुरुपिये, रस और सौन्दर्य लुटानेवाले विद्याधर नहीं आते, पर उनकी जगहपर नये बहुरुपिये गाँव-गाँव पैदा हो गये हैं। पुराने बहुरुपिये देव योनिके प्राणी थे तो नये बहुरुपिये पशु-योनिके हैं। लगता है कि जंगलोंमें 'सावज' (शिकार) के अभावमें शेर-चीते, बाघ-भालू, स्यार-लोमड़ी आदि आदमीके चेहरे लगाकर चरने-खानेके लिए गाँव-गाँवमें वास के लिये हैं। इनके सामने पुराने बहुरुपिये क्या आयें ! दरिद्रता और स्वभाव-परिवर्तन, दोनों साथ-साथ चलते हैं। 'श्री' जाती है तो साथ-साथ 'धी' भी चली जाती है। आजकल धाता विष्णु इन गाँवोंके लिए साल-साल-भर सोये रहते हैं। अगहन आता है, पर सिर्फ़ छातीपर 'अदहन' जलाने। पहले चन्दनकी गाछपर काग बोलता था, प्रीतमका सन्देश पढ़ता था, तो आज दिनमें ही छतपर उल्लू बोलते हैं और रातमें शाप मँडराता है। अतः स्वभाव और अभाव, दोनोंके कारण बहुरुपियोंकी कलाकी कोई क़दर नहीं रही। मैं समझता हूँ, उनमें 'शुक' रिक्शा खींच रहा होगा तो 'सारिका' मूँगफली बेच रही होगी। नर भिलाई या दुर्गापुरमें मिट्टी काट रहे होंगे और नारायण कलकत्तेमें पॉकेट काटते होंगे। आखिर कलाके नामपर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कबतक उपवास करेंगे ! और पहले भी तो कला उनके लिए जीवनका साधन ही थी। पहले वे ललित कलाके द्वारा पेट भरते थे तो आज लालित्यहीन कलाका आश्रय पकड़ लिये होंगे। आखिर जीना तो है ही।

यहाँपर एक सवाल उठाया जा सकता है : यदि 'शुक' 'सारिका' रिक्शा खींचें, मूँगफली बेचें तो क्या हर्ज़ है ? जो कला उत्पादक नहीं, उसके अस्तित्वकी क्या सार्थकता है ? और यह प्रश्न बहुरुपियेके घेरेसे ऊपर उठकर विराट् प्रश्नको जन्म देता है : 'दुर्गापुर-भिलाईके युगमें सूर-तुलसी, रवीन्द्र-निराला, रास-आल्हा, 'भावना'-'जात्रा' आदिका क्या महत्त्व है ? वह 'संस्कृति' (ललित कला, ललित कारीगरी, ललित चिन्तन और ललित व्यवहारके लिए कोई सर्वनिष्ठ मिली-जुली संज्ञाके अभावमें 'संस्कृति' शब्द ही इन चारोंकी कामचलाऊ अभिव्यक्ति दे देता है) जो उत्पादक नहीं है, क्यों बोझकी तरह ढोयी जाये ? आखिर वेदान्त, सूफ़ीवाद, ताजमहल और दाँते-रवीन्द्रनाथके रहने या न रहनेमें हमारी छूँछी भातकी हाँड़ीका क्या बनता-बिगड़ता है ? अतः असली प्रश्न है 'उत्पादन' बनाम 'संस्कृति'। संस्कृति सर्जन करती है, उत्पादन नहीं कर पाती। और भातकी छूँछी हाँड़ी, जो सबसे बड़ा युग-तथ्य है, उत्पादनकी उपयोगिता ही समझ पाती है, सर्जनकी सार्थकतासे उसका कोई ताल्लुक़ नहीं है। यह सवाल बार-बार हमारे सामने उच्छृंखल मुद्रामें खड़ा होता है और हम जवाब नहीं पाते।

यह सही है कि रवीन्द्रनाथके गीत भातकी हाँड़ीमें कोई स्वाद जोड़ नहीं पाते और इस हिसाबसे वे उपयोगी नहीं। पर क्या इसीसे वे हलके या मूल्यहीन हो जाते हैं ? यदि नहीं, तो फिर रवीन्द्रनाथके गीतों या शंकर-अफ़लातून या ताजमहलका क्या मूल्य है, जिसके बलपर इनका अस्तित्व रूरकेला-भिलाईके युगमें भी आवश्यक माना जाये ? उपयोगिता-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वादी युगमें संस्कृतिकी क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर यह है कि रवीन्द्रनाथके गीतोंसे, वेदान्तसे और ताजमहलके माध्यमसे जीवनका कोई अर्थ जो अबतक अनाविष्कृत-सा था, अचानक खुल जाता है या कोई अर्थ जो अबतक खाली या अध-भरा था, लबालब भर जाता है, या कोई अर्थ जो अभीतक बे-स्वाद और पतला था, प्रगाढ़ और सम्पृक्त हो जाता है। ललित कला, ललित चिन्तन, ललित कारीगरी और ललित व्यवहार यानी समूची लालित्य-साधना जिसे काव्य, कला, लोकगीत, लोकनृत्य, दर्शन, स्थापत्य आदिके रूपमें अपने-अपने मानसिक स्तर और रुचिके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति वरण करता है—इसी अर्थमें महत्त्वपूर्ण और 'मूल्य'-वान् है कि वह जीवनको सार्थकता प्रदान करती है। जो लोग झटकेसे कह बैठते हैं : 'हटाओ, इससे क्या पेट भरेगा ?' वे बिना सोचे-समझे, बिना गम्भीरतापूर्वक विचार किये ऐसा कह बैठते हैं। मार्क्स उपयोगितावादी था। पर वह अपनेको शेक्सपियर और ग्येटेका प्रेमी घोषित कर चुका है। तथ्य तो यह है कि आज तक मनुष्य जातिके इतिहासमें कोई भी ऐसा उपयोगितावादी पैदा नहीं हुआ, जो लालित्य-साधनाके मूल्यको अस्वीकार करे। झगड़ा सिर्फ़ प्राथमिकताके लिए है। श्रम और कला, दोनों मूल्यवान् हैं, पर कौन प्रथम है और कौन द्वितीय महत्त्वकी—इसीको लेकर चखचख है। मेरी समझसे श्रम यानी उत्पादक श्रम जीवनका साधन है पर ऊपरकी कही गयी सार्थकता साधन नहीं, लक्ष्य है। साधारण आदमीकी नज़र साधनपर ज्यादा इसलिए जाती है कि वह नज़दीक है, उससे तात्कालिक सम्बन्ध है, उसमें वह जुता हुआ है, उसके जुएका निरन्तर अनुभव हो रहा है। परन्तु लक्ष्य मंज़िलका टिमटिमाता तारा है, अतः दूरीके कारण वह सदैव हमारी नज़रपर चढ़ा नहीं रहता और कर्ममें जुते होनेके कारण हम इसके प्रति निरन्तर सचेत नहीं रहते। पर सचेत मनःस्थितिका एक क्षण भी पर्याप्त है, यह बतानेके लिए कि समूचे जीवन-के 'अर्थ'को समेटे वह लक्ष्य 'है' और वह 'है' इसीलिए जीवन और उसके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साधन भोजनादिकी भी आवश्यकता है। जब वह डूब जाता है, तो न तो जीवन ही आवश्यक है और न उसका साधनस्वरूप उत्पादक श्रम। जीवन-के उस अर्थगर्भ लक्ष्य-बिन्दुको, सार्थकताके उस बीजगणितको जिन सूत्रों-द्वारा हम पकड़नेका प्रयास करते हैं, वे सूत्र यानी गीत, नृत्य, अभिनय, काव्य, दर्शन, स्थापत्य आदि महत्त्वहीन और मूल्यरहित कैसे हुए ?

लगता है, यह दृष्टि धीरे-धीरे भोंथर होती जा रही है। इसका एकमात्र कारण ग़रीबी नहीं। इस देशका साठ प्रतिशत तो सनातनसे ग़रीब है। इस साठ प्रतिशतको वर्णाश्रित समाज-व्यवस्थाने अनन्तकालके लिए भूख और दरिद्रताके हाथ बेच दिया है। मेरा तात्पर्य निचली श्रेणी-के वैश्यों और शूद्रोंसे है। परन्तु पहले वे रास, लोकगीत और लोक-नृत्य-के माध्यमसे अभिरुचिको तेज़ और धारदार किये रहते थे। लोहारोंके टोलेमें, धोबियोंके टोलेमें, तेलियोंके टोलेमें, चमारोंके टोलेमें अपनी-अपनी मण्डली बैठती थी। हर बिरादरीकी अपनी लोकगाथा थी। यथा : तेलियोंका 'बेहुला', दुसाधोंका 'सहलेस', अहीरोंकी 'लोरकी'। हर बिरा-दरीका अपना निजी छन्द था, अपना निजी राग था। कई बिरादरियोंका अपना लोक-नृत्य भी था जैसे अहीरों, कहारों और धोबियोंका। प्रायः हर रात अपनी-अपनी बिरादरीमें बैठकर लोग अपना-अपना सांस्कृतिक कार्य-क्रम चलाते थे और इस प्रकार फ़ुरसतके समयको ग़रीबों-द्वारा दी गयी जीवनकी रिक्तता दूर करनेमें लगाते थे। इन सांस्कृतिक कार्यक्रमोंसे एक ओर तो जीवनकी रिक्तता भरती थी और जीवनमें कुछ क्षणोंके लिए ही सही अनाविष्कृत उल्लासका संचार होता था। साथ ही साथ बेहुला, सहलेस या लोरकीके माध्यमसे भ्रातृत्व और निजत्व हृदयके अन्दर प्रवेश करता था। कहते भी थे : "एक पाँत, एक भात, एक गीत।" 'भात' और 'गीत'के माध्यमसे बन्धुत्वका संचार एक गहरी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया-की ओर संकेत करता है। परन्तु आज गाँवोंमें ये मण्डलियाँ प्रायः नहीं बैठती हैं। हर बिरादरीमें दलबन्दी है, गुट है, राजनीति है। दुःख, ग़रीबी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और मजदूरी तो वही रही, पर साथमें आ गयी राजनीति। उल्लास और भ्रातृत्व चले गये। इसका कारण, ग़रीबी नहीं। ब्राह्मणों, राजपूतों और कायस्थोंकी नववधुएँ लोककथाएँ और मांगलिक गीतोंको नहीं जानती हैं। इस मशीन-युगमें चक्की चलाने और धान कूटनेकी भी इन्हें तकलीफ़ नहीं करनी पड़ती। ये अपेक्षाकृत अभावोंसे उतनी पीड़ित नहीं। फिर भी ये लोककथाएँ और मांगलिक गीतोंको सीख नहीं सकीं। इसका कारण है—जीवनकी व्यवस्था और रुचिका परिवर्तन, जो औद्योगिक क्रान्तिकी वजहसे, जो संस्कारोंके शहरीकरणकी वजहसे, घटित हो रहे हैं। इसमें ग़रीबीका कोई खास हाथ नहीं।

आज संस्कृति और जीवन—दोनोंमें एक ध्रुवण चल रहा है। वह यह है कि गांवोंमें शहरी संस्कृति प्रवेश कर रही है। औद्योगिक प्रगति और शहरी संस्कृति, दोनोंका दायरा विस्तृत होता जा रहा है। फलतः गाँवोंका मन बदल रहा है। उनके संस्कार बदल रहे हैं। जहाँतक गांवोंके शहरीकरणका प्रश्न है एक हद विशेष तक मैं इसे शुभका आरोहण मानता हूँ। गाँव कूड़े-कचरे और अज्ञानके ढेर बन गये हैं। गन्दगी, असभ्यता और अज्ञानको सनातनके ठेकेदारोंने धर्म और संस्कृति कहकर शताब्दियों तक बेचा है। अतः कुसंस्कारों और विकृतियोंको यदि हम शहरीकरणके माध्यमसे दूर कर दें, तो यह शुभ है। परन्तु इस प्रक्रियामें कुछ प्राणवान् तत्त्व भी नष्ट हो रहे हैं, ग्रामोंकी रागात्मक संस्कृति, इनके गीत-नृत्य, इनके उल्लास और भ्रातृत्वके साधन। नयी नगर-संस्कृतिमें सबसे बड़ा दोष यह है कि उसमें वह स्थायित्व या अन्तर्बल नहीं, जो ग्राम-जीवनको समेटकर एकमें बाँधे रहे और उसे टिकाऊपन दे सके। नयी नगर-संस्कृति प्रगतिशील है अर्थात् निरन्तर कालके दबावमें पड़कर परिवर्तित होती रहती है। ग्रामोंके माध्यममें ही हम हिन्दुस्तानके व्यक्तित्वकी, उसकी निजी सनातन अस्मिताकी रक्षा कर सकते हैं। और यदि हिन्दुस्तानी मनको ज़िन्दा रखना है तो लोक-संस्कृतिके उन प्राणवान् साधनोंको बचाये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रखना होगा तथा उन्हें नये-नये संस्कार देकर निरन्तर युगानुरूप करते रहना होगा।

नगर-संस्कृतिमें भी कला-साहित्य और नृत्यगीत हैं। उनका अपना निजी महत्त्व है। वे हिन्दुस्तानी अस्मिताके अभिजात अंशसे उत्पन्न होते हैं और उनमें भी बहुत-कुछ उदात्त, स्थायी और सनातन है। परन्तु जहाँ-तक गाँवोंपर आरोपित नगर-संस्कृतिका सम्बन्ध है, यह नागरिक सांस्कृतिक साधना बिलकुल ही सहायक नहीं हो सकती। यह महनीय है, अभिजात है अतः यह लोक-संयुक्त नहीं हो सकती। गाँवोंके शहरीकरणके फलस्वरूप धोबी-नृत्य या कहरवा नाच तो मर जायेगा। उसकी जगह 'कथक' या 'भरतनाट्यम्' आता तो कोई बात नहीं थी। परन्तु 'कथक' या 'भरत-नाट्यम्' लोक-संयुक्त कलाएँ नहीं। यहाँ ये बिलकुल सहायक नहीं हो सकतीं। धोबी-नृत्य और कहरवा नाचके नष्ट होनेसे जो रिक्तता या शून्य स्थान पैदा हो गया, वह शून्य ही रह जायेगा। यदि काटकर दूसरे पेड़की क़लम लगे तो ठीक है, परन्तु जहाँ क़लम लगानेकी गुंजाइश न हो, वहाँ डाल काटना निरंकुश हत्या—रक्तपातके ही समकक्ष है।

गाँवोंकी नयी पीढ़ी अपने मनको जिस दिशामें विकसित कर रही है, वह है शहरी मनकी दिशा। इस प्रकार गाँवोंमें संस्कारोंका ध्रुवण प्रारम्भ हो गया है। नयी पीढ़ीका ध्रुव है शहरी मन। परन्तु शहरी मन और शहरी सन्दर्भमें कला और जीवन, दोनों विच्छिन्न चलते हैं। शहरी संस्कृतिमें कला और जीवन सतीर्थ नहीं। गाँवोंमें कला लोक-संयुक्त है। उसका जीवनसे प्रगाढ़ सम्बन्ध है। वह जीवनको सजावट ही नहीं, उल्लास-उत्साह देती है। इसमें कलाकार और दर्शक, दोनों 'सहभोक्ता' हैं। इसीसे लोक-कलाएँ अवसर 'वृन्द' (कोरस) के माध्यमसे व्यक्त होती हैं। परन्तु नगर-संस्कृतिमें दर्शक 'भोक्ता' है, 'सहभोक्ता' नहीं। दर्शक निष्क्रिय और तटस्थ होकर भोग करता है। अतः कलासे उसका कोई आत्मगत या प्राणगत सम्बन्ध नहीं। कलाके पास वह रक्त-रोमांच

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

या उत्तेजनाके लिए जाता है। उसमें उसे सामाजिक प्रतिबद्धता, बन्धुत्व, बिरादरीपन और निजस्व आदि नहीं मिलते। कला उसके लिए मनोरंजन है, वासना-पूर्तिका साधन है और सौमें नब्बेके लिए दमित वासना या 'सैडिज़्म' की पूर्तिका साधन है। फ़िल्मोंके आ जानेसे यह और ऐसा हो गया है। परन्तु ग्रीकोंने, पुराने हिन्दुओंने, वैष्णवोंने, ईसाइयोंने, विशेषत: १४ वीं-१५ वीं शतीके ईसाइयोंने कलाको एक विशेष जीवन-दर्शनकी सार्थकताको व्यक्त करनेका माध्यम बनाया था। बिरहा, लोरकी, बेहुला, कहरवा तो लोक-जीवनको सार्थकता और सम्पृक्तता देते ही हैं, विदग्ध रचनाएँ यथा जायसीका 'पद्मावत' और तुलसीका 'मानस' भी जीवनको सार्थकता प्रदान करनेके लिए लिखे गये हैं। हरेक जाति, क़ौम, बिरादरी या कवि-शायरके द्वारा आविष्कृत सार्थकताका स्वभाव अलग-अलग है। परन्तु सबको कलाका उद्देश्य 'सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै' ही है। कवि, अभिनेता, दर्शक—सभी सहभोक्ता हैं और सभी-सभी साथ-साथ उस कलाके माध्यमसे तेजका अर्जन कर रहे हैं। परन्तु नये शहरीपन-में, जो गाँवोंकी नयी पीढ़ीका ध्रुव है, यह आदर्श नहीं। इस ध्रुवणके फलस्वरूप गाँवोंके लड़के सिनेमाका गीत सीखते हैं, परन्तु पुराने गीत जो परस्पर सामाजिक भोगके माध्यम थे, मरते जा रहे हैं। नववधुएँ रेडियो सुनती हैं, लता मंगेशकरके गीत गुनगुना भी लेती होंगी, पर परस्पर सामाजिक स्थायित्व देनेवाले मांगलिक गीतोंको वे भूलती जा रही हैं। मैं समझता हूँ कि उत्तर प्रदेशमें यह सांस्कृतिक ध्रुवण और भयावह होगा। यहाँकी नागरिक संस्कृति भारतके अन्य भागोंकी तुलनामें पहलेसे ही कृत्रिम और अभारतीय रही है। भारतमें नौकरशाही मुग़ल-युगसे शुरू होती है और इस नौकरशाहीके प्रतिनिधि हिन्दुओं और मुसलमानोंके कुछ वर्ग-विशेष हैं, जो उत्तर प्रदेशका केन्द्रीय और प्रान्तीय स्तरपर नियन्त्रण करते हैं। यहाँकी नागरिक अभिरुचि दरबारोंके कृत्रिम संस्कारोंको लेकर चलती है। पर यह कृत्रिम दरबारी संस्कृति, जिसकी सीमा उर्दू

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग़ज़ल तक ही खतम है, अति दरिद्र और संकीर्ण है। इसके माध्यमसे उनका मुक्त विस्तार असम्भव है। परन्तु उत्तर प्रदेशके नागरिक जीवनपर वह इतने घोर रूपसे हावी है कि इसमें पला हुआ तथाकथित संस्कारी व्यक्ति 'दुष्यन्त' और 'शकुन्तला' शब्दोंका ठीकसे उच्चारण नहीं कर पाता और अपने ग़लत उच्चारणका ही घमण्ड करता है।[1] यह किसी जातिकी मानसिक और आत्मिक दासताकी खास निशानी है कि जातिके सदस्य अपने प्रभुओंकी 'विकृति' को गर्वपूर्वक 'संस्कृति' मानकर ग्रहण करते हैं। उत्तर प्रदेशकी नौकरशाही क़ौमें जो दुर्भाग्यवश यहांके नागरिक जीवनका मालिक बनी बैठी हैं, अपने मनको इतना कृत्रिम बना चुकी हैं कि उन्हें यह बात खलती ही नहीं। अतः उत्तर प्रदेशके गांवोंमें सांस्कृतिक ध्रुवण एक बड़ी त्रासदी लायेगा। यह त्रासदी हिन्दुस्तानी जिजीविषा और हिन्दुस्तानी अस्मिताकी त्रासदी होगी।

परन्तु प्रगति और औद्योगिक विकासके युगमें गांवोंके शहरीकरणको तो रोका नहीं जा सकता। और, रोकना उचित और कल्याणप्रद भी नहीं होगा। क्योंकि ग्रामोंका शहरीकरण किये बिना उद्धार नहीं। परन्तु साथ-ही-साथ सांस्कृतिक ध्रुवण और सांस्कृतिक प्राण-क्षयको भी रोकना आवश्यक है, क्योंकि यह ग्रामोंकी जिजीविषा और ग्राम-जीवनकी सार्थकताका क्षय है। इसके लिए संस्कृतिके सैनिकों, यथा कवियों,

---

१. एक बार एक बारातमें जानेका अवसर मिला, जिसमें भोजपुरी-भाषी क्षेत्रके कुछ अफ़सर क्लासके लोग थे। बारात बिहारमें गयी थी। वहाँ एक गायकने विद्यापतिका विश्व-विश्रुत पद 'सखि, की पूछवि अनुभव मोय' जिसके प्रशंसक गुरुदेव रवीन्द्रनाथ भी थे, गाया। पर उक्त कृत्रिम संस्कृतिके अभिजात रंगमें रँगे एक साहबको यह सब गँवारू-जैसा लगा, जब कि एक मामूली ग़ज़लपर वे 'वाह-वाह' कर उठे। इस सांस्कृतिक कुण्ठा और रस-बोधकी दयनीयताका कारण है वह मानसिक अवरोध, जो प्रत्येक क़िस्मके देशीपनके विरुद्ध उस कृत्रिम संस्कृति-द्वारा पैदा किया जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाटककारों, अभिनेताओं और नर्तकोंको ही कुछ करना होगा। वह कार्यक्रम होगा : उलटा हाथ लगाना, 'उलटी यमुना' बहाना अर्थात् लोक-कलाओंको ही नागरिक संस्कृतिके भीतर प्रविष्ट करा देना। इससे एक ओर तो नागरिक संस्कृतिकी कृत्रिमता घटेगी और दूसरी ओर लोक-कलाओंमें नगर-जीवनका संस्पर्श प्रवेश होनेपर सुरुचि-सम्पन्नता और सफ़ाई आयेगी। उदाहरणके लिए रवीन्द्रनाथ और नज़रुलकी कृपासे भटियाली गान और बाउल गान बंगालकी नागरिक रुचिके भीतर प्रवेश पा चुके हैं। यामिनी रायकी चित्रकला नागरिक अभिरुचिको स्वस्थ संस्कार दे रही है और इससे हिन्दुस्तानी अस्मिताको बड़ा बल मिला है। यामिनी रायकी रेखाएँ और आकृतियाँ गाँवोंके कोहबरों, भित्ति-चित्रों और कुम्हारों-द्वारा पात्रोंपर अंकित चित्रोंसे ली गयी हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि यामिनी रायके चित्रोंके माध्यमसे नागरिक अभिरुचिको स्वस्थ एवं प्राणवान् स्पर्श मिला है और बदलेमें नागरिक अभिरुचिने इसे नयी परिष्कृति और सुरुचि प्रदान की है। असम प्रदेशमें प्रसिद्ध नर्तक विष्णु राभाके नेतृत्वमें लोक-नृत्यों और लोक-गीतोंके क्षेत्रमें यही 'उलटी यमुना' की प्रक्रिया चल रही है। नागरिक संस्कृति और लोक-संस्कृति परस्पर एक-दूसरेको नव-संस्कार और नवप्राण दे रहे हैं। परन्तु हिन्दी प्रदेशोंमें नगर-संस्कृति नौकरशाहीकी पिछलग्गू है और यह नौकरशाही या तो 'बाहरी' है या 'बाहरी' बनकर जीनेमें गर्व करती है। अतः यह पारस्परिक वरण या पारस्परिक आदान-प्रदान, जो सांस्कृतिक स्तरपर गाँवों और शहरोंके बीच अन्य प्रान्तोंमें सम्भव है, यहाँपर सम्भव नहीं। यहाँकी त्रासदी है—कुछ लोगोंका 'बाहरी' बने रहनेका हठ, मोह और घमण्ड; और इस मोह और घमण्डका विश्लेषण किया जाये तो अन्तमें आकर यह उनकी हीनता 'ग्रन्थि' ही साबित होता है।

ऐसी अवस्थामें मैं समझता हूँ कि साहित्यकार विशेषतः हिन्दीके साहित्यकारको कुछ करना है। उसे अपनेको लोक-संयुक्त करके उसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकार ग्रामों और नगरोंके पारस्परिक सांस्कृतिक वरणकी भूमि तैयार करनी है, जिस प्रकार रवीन्द्रनाथ, नज़रुल आदिने काव्यमें, यामिनी रायने चित्रकलामें और विष्णु राभाने नृत्यमें अपने-अपने प्रदेशोंमें किया है। उसे कुछ लिखना होगा जो 'समूह'के लिए होगा। नया साहित्यकार 'समूह'के लिए लिखना अपनी तौहीनी मानता है। युधिष्ठिर जिस तरह अकेले स्वर्ग गये, वैसे ही वह भी अकेले-अकेले शिखरारोहण करना चाहता है, लोक-संयुक्त रूपमें नहीं। परन्तु वह भूल जाता है कि युधिष्ठिर अकेले सीमित अर्थमें ही थे, साथ-साथ धर्मरूपी श्वान भी चल रहा था। यदि वे श्वानको इनकार करते, तो इन्द्रयान ऊपर-ही-ऊपर चला जाता और दाँतोंसे बर्फ़ काटते हुए मुट्ठी दबाकर वे भी औरोंकी भाँति निर्जनमें प्राण त्याग करते। यह सही है कि केवल लोक-संयुक्त रहनेसे केवल समूहके लिए लिखनेसे प्रचारवादी साहित्य ही पैदा होगा। पर लोकको छोड़ना भी आत्मघाती होगा। अतः आजके साहित्यकारको तुलसी और रवीन्द्रनाथकी ही तरह दुहरा उत्तरदायित्व लेना है, दुहरा जीवन जीना है, 'अकेले' रहना है, साथ ही लोक-संयुक्त भी रहना है, 'लोक'के लिए लिखना है, साथ ही 'स्वान्तःसुखाय' लिखना है। दुहरा उत्तरदायित्व और दुहरा जीवन—यही उसकी नियति है।

आजका साहित्यकार एक ही प्रतिबद्धताको श्रेयका मार्ग मानता है। पर एकहरी प्रतिबद्धता और एकहरा जीवन अस्वाभाविक तथ्य है। एकहरा जीवन या तो पशुओंका होता है या रोबाँटों (यन्त्र मानवों) का। मनुष्य-के लिए सम्भव ही नहीं कि वह एकहरा जीवन जिये। मनुष्यका जीवन अपने साधारणसे साधारण रूपमें बहुपहली, बहुमुखी और उलझावपूर्ण रहता है। एक 'सेल' (कोशाणु) के प्राणी अमीबा-द्वारा ही एक पहलू, एकहरा, जीवन जीना सम्भव है। मनुष्य एकहरा जीवन नहीं जी सकता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तो साहित्यकार-जैसा संवेदनशील प्राणी एकहरी ज़िन्दगी कैसे जियेगा ? उसे तो दुहरा-तिहरा जीवन जीना ही है, क्योंकि दुपहली, तिनपहली, बहुपहली सिसृक्षाके आवेशसे वह ग्रस्त रहता है। सिसृक्षाका एक पहलू है 'आत्मान्वेषण', जो वेदान्त सूत्रोंके रचयिता और नयी कविताके कवि—दोनोंको समान रूपसे करना पड़ा है। दूसरा पहलू है 'आत्मान्वेषण'के सत्योंको एक गठन और व्यवस्था देकर लोकके सम्मुख उपस्थित करना। यह काम दार्शनिक और विचारक कवि, लेखक करता है, जैसे व्यास, ग्येटे अथवा ज्याँ पॉल सार्त्र। उसका अन्य पहलू होता है उन विराट् सत्यों-द्वारा व्यक्त मानवीयताको वक्रोक्तियों, कहानियों, नाटकों और 'फ़ेबुलों' (बोध-कथा) में बाँधकर लोकके सम्मुख उपस्थित करना। उदाहरणके लिए व्यासका 'ब्रह्मसूत्र' उनका 'आत्मान्वेषण'वाला पहलू है, जो उनके 'अकेलेपन'को व्यक्त करता है तो 'श्रीमद्भागवत' उनका उपयुक्त तीसरा पहलू है, जो उनके 'लोक-संयुक्त' रूपको व्यक्त करता है। व्यक्तित्व तो माध्यम है—निष्क्रिय माध्यम। यह सक्रिय तब होता है, जब इसमें 'स्व'-का आवेश होता है अथवा 'लोक-मन' का आवेश होता है। दोनों दो क़िस्मकी सिसृक्षा दो क़िस्मका जीवन बारी-बारीसे एक ही व्यक्तित्वके अन्दर आरोपित करते हैं। (यह दुहरा जीवन दरअसल दुहरा ही नहीं, बल्कि एकपर एक-एक कई परतोंवाला है। पर मोटे तौरपर उन्हें 'स्व' और 'लोक'—दो वर्गोंमें विभाजित करके 'दुहरा' कहते हैं।) वास्तवमें यह व्यक्तित्वका विखण्डन नहीं, व्यक्तित्वका बहुमुखीपन या पूर्णता है। व्यक्तित्वका विखण्डन तो तब होता है जब इस दुहरे जीवनके दोनों पहलू एक-दूसरेसे सहयोग नहीं कर पाते हैं, जब वे परस्पर सहयोगी न होकर परस्पर विरोधी हो जाते हैं और एक-दूसरेको सन्देहकी दृष्टिसे देखने लगते हैं। पर जिस प्रतिभाके अन्दर ये परस्पर पूरक और परस्पर सहयोगी हो जाते हैं, उसके व्यक्तित्वको ये अधिक प्रामाणिकता और पूर्णता प्रदान करते हैं। सत्यके कई पहलू होते हैं। जो व्यक्तित्व जितने ही अधिक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पहलुओंको पहचाने, वह उतना ही अधिक प्रामाणिक और सम्पृक्त है। अतः आज यदि कोई नया कवि नयी कविता लिखता है, साथ ही अपने 'आत्मान्वेषण'को सादे सहज फ़ेबुलों, प्रतीकोंके आधारपर लोक-नाट्य या लोक-गाथा या नौटंकी या 'जात्रा' नाट्यके माध्यमसे व्यक्त करनेकी क्षमता रखता है, जो उसे लोक-जीवनके साथ जोड़ती है, तो यह उसकी अनुभूतिगत अप्रामाणिकता या बेईमानोंका उदाहरण नहीं, बल्कि उसकी गहरी सम्पृक्तता और व्यापक प्रामाणिकताका सबूत है।

पर नवबोधके साहित्यको लिखनेवाले इस तथ्यको स्वीकारनेमें हिचकते हैं। स्वीकार कर लेनेपर भी मन और कर्मसे इसे नहीं स्वीकारते। वे भ्रमवश दुहरे-तिहरे जीवन या दुपहली-तिपहली या बहुपहली सिसृक्षाको भिन्न-भिन्न 'मुखोशों' या 'काग़ज़ी चेहरों' का बेईमान जीवन मानते हैं। पर वे 'मुखोश' (मुखौटे) और सम्पृक्त जीवनमें भेद करना भूल जाते हैं। 'मुखोश' लगाकर कोई भले ही बाज़ारमें ठगई कर ले, नौकरी पा ले, रुपये ठग ले या किसीकी पत्नी या बहनको फँसा ले; पर कोई 'मुखोश' लगानेसे साहित्य भी लिख लेगा, यह असम्भव है। साहित्यके क्षेत्रमें 'लोक-संयुक्त' या 'लोक-सतीर्थ' का मुखोश लगाना ही काफ़ी नहीं होगा। यदि यह भाव उसकी रचनाओंसे अपनी समूची अनुभूतिगत ईमानदारी (सबजेक्टिव आनेस्टी) के साथ फूटेगा, तब तो लोग उसका विश्वास करेंगे, अन्यथा नहीं। और यह अनुभूतिगत ईमानदारी तब आयेगी, जब कि उसने सम्पृक्त ढंगसे उक्त विशेष बोधको आविष्कृत किया है और अनुभूत किया है। वास्तवमें यह संस्कारोंकी साधना है। 'लोक-संयुक्त' मनके संस्कार और 'अकेले' मनके संस्कार, दोनों जीवनके प्रगाढ़ सम्पृक्त क्षणोंमें ही प्राप्त होते हैं। प्रत्येक अवस्थामें संस्कारोंकी एक पूरी लम्बी शृंखला मिलती है। उस शृंखलामें-से अपनी प्रतिबद्धताके अनुकूल कवि या लेखक चुनाव करता है। परन्तु जो लोग चुनाव करनेकी क्षमता नहीं रखते, वे इन संस्कारोंको गर्भनाल-संयुक्त रूपमें ज्योंका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्यों व्यक्त करनेके पक्षपाती हैं। यह तिरछा रास्ता 'शार्ट कट' है। 'शार्ट कट' तो अच्छी बात है। पर देखना यह है कि कहीं यह 'बैड कट' तो नहीं हो रहा है।

जीवनकी दुहरी-तिहरी या बहुमुखी साधनाका सत्य मुझे बचपनमें संकेत रूपसे बहुरुपियोंके माध्यमसे मिला। उन दिनों मुझे लगता था कि वह बहुरुपिया प्रतिदिन एक नया जीवन जी लेता है। बादमें जब मैंने जीवनके बृहत्तर दायरेमें प्रवेश किया तो देखा कि यह हिन्दुस्तान ही एक बहुत बड़ा बहुरुपिया है, यह जाना-पहचाना हिन्दुस्तान ही एक 'महानट' है। यह रात-दिन, गाँव-गाँव, नगर-नगर, गली-गली विविध रूपों, विविध भूमिकाओंमें जी रहा है। कोई भी भूमिका आरोपित, झूठी या 'मुखोश' पन्थी नहीं। जरूरत है इन भूमिकाओंको पहचाननेवालेकी। जो जितनी ही अधिक भूमिकाएँ पहचान पाया है और उन्हें अपनी सिसृक्षाके द्वारा भोग पाया है, वह उतना ही बड़ा कलाकार, उतना ही बड़ा स्रष्टा बन पानेमें समर्थ हुआ है। जिन्होंने हठ किया कि 'शकुन्तला' मिथ्या है, 'गोबर' और 'धनिया' ही सही भूमिकाएँ हैं, उनकी स्थिति उन अन्धोंकी तरह हो गयी जिनमें कोई सूँड़को ही पूरा हाथी समझता रहा, तो कोई पाँवको! इस महानटकी भूमिकाएँ देश और काल—दोनों इकाइयोंमें बिखरी पड़ी हैं। यह वह महानट है जो 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' से 'आँगन-के पार द्वार' तक अपना संवाद बोल रहा है और भविष्यमें भी निरन्तर बोलता रहेगा। यह महानट हिन्दुस्तान एक पात्री, द्विपात्री, बहुपात्री, अपात्री नाटकों, व्यायोगों, प्रवेशकों और विष्कम्भकोंका जीवन एक साथ निरन्तर जी रहा है। इसकी जिजीविषा बहुमुखी है। इसकी सिसृक्षा बहुरूपी है। यह 'शृंगार, वीर, करुण, रौद्रादि महारस-ताण्डव नटम्' हिन्दुस्तान ही साक्षात् नटराज है। यह हिन्दुस्तान, यह कालके सुदूर छोरसे आरम्भ होनेवाला गड्डलिका-प्रवाह, यह बहुरूपी भीड़ ही साक्षात् नटराज है, साक्षात् विश्वेश्वर है और यह हिन्दुस्तानकी शस्य-श्यामला

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धरती ही पार्वती है, अन्नपूर्णा है। यह हिन्दुस्तानकी धरती स्वतः एक 'श्री-चक्र' है। इस 'श्री-चक्र'का बोध ही जीवनकी सार्थकता है। पर यह बोध एकहरे जीवनसे प्राप्य नहीं। इसके लिए, इसके अनुरूप ही, बहुमुखी जिजीविषा और बहुरूपी सिसृक्षा चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक ग्रीक प्रोषितपतिकाका आत्मकथ्य

[पिनीलोपिया ग्रीक नायक ओद्युसियसकी पत्नी थी। परकीया हेलेनके प्रतिपक्षके रूपमें पतिकी प्रतीक्षामें रत इस पत्नीका चित्रण होमरने अपने दूसरे महाकाव्य 'ओडेसी' में किया है। ट्राय-युद्धके बाद भी ओद्युसियस क्रूर देवता वरुणके कोपके कारण दस वर्षों तक समुद्रमें भटकता रहा। इस बीचमें उसकी पत्नीको तरुण प्रणयी निरन्तर त्रास देते रहे और प्रणयका निवेदन करते रहे। पर पिनीलोपिया धीरतापूर्वक अपने वीर पतिकी प्रतीक्षा करती रही। अन्तमें ओद्युसियस लौटा और इन उद्दण्ड प्रणयियोंका संहार कर अपनी पत्नीसे बीस वर्ष बाद पुनः मिला। (कुछ लोगोंके अनुसार समय 'तीस' वर्ष होना चाहिए।) यह आत्मकथ्य पतिके लौटनेके पूर्वकी स्थितिका है जब पिनीलोपिया 'प्रोषितपतिका' है।]

वसन्त जनम ले रहा है। नारंगी रंगके बेशुमार क्रोकस फूलोंके साथ बीच-बीचमें बैंगनी हायसिन्थसे इथाकाका विषम पहाड़ी ढाल भर गया है। फूलोंकी तहपर तह और बीच-बीचमें अंजीर और ओकके वृक्षोंसे बने स्वाभाविक श्यामल छाया-कुंज। लगता है सारी पहाड़ी ही देवताओंकी शय्या हो। शय्या ही नहीं, फूल-शय्या। यहाँ प्रति रात्रिको उस पारवाले एकान्त ढालपर, जो तटकी विषम कटान और क्रुद्ध तरंगोंके निरन्तर आक्रमणके कारण दिनमें ही दुर्गम है, रति और उसका गुप्त जार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कार्तिकेय[1] शयन करते हैं। लालसा-तप्त रतिके अंगोंका स्पर्श पाकर रात-भर यह पहाड़ी फूलती रहती है—पीत-अरुण और अरुण-नील दो रंगोंका क्षण-प्रतिक्षण जन्म होता रहता है। नग्नबाहु रति और कार्तिकेयके मनमें छाये पीत-अरुण और अन्तमें 'सुनील' फिर दीर्घ 'तमस-नील' रंग धरतीपर फूल बनकर देवताके मनको सगुण ढंगसे अभिव्यक्त करते हैं। नारंगी क्रोकस-का पीत-अरुण और बैंगनी हायसिन्थका नील-अरुण ! प्रति-प्रातः नारंगी और बैंगनी रंगोंकी तहपर तह तथा नयी घासोंकी हरी नीलिमा देखती हूँ, तो मन उदास हो जाता है। वे दिन स्मरण हो आते हैं जब मैं पिताके घर थी। दिनमें चाहे मरमर स्वरवाली नदीके पास हों, या काँपते बेतवनोंके ऊपर हों या रात्रिके स्वप्नमें हों केवल दो ही रंग दिखाई पड़ते थे—नारंगी और बैंगनी यानी पीत-अरुण और नील-अरुण। मनका सहज पीत-अरुण जब प्रगाढ़ होने लगता तो गाढ़ा होते-होते अरुण फिर बैंगनी यानी नील-अरुणमें बदल जाता था। मैंने देवोपम ओद्युसियसको जब प्रथम बार देखा तो लगा, क्षण मात्रमें भीतर सिरसे पैर तक क्रोकसके पीत-अरुण कुसुम्भी फूल खिल गये। प्रथम स्पर्शपर पीत कट गया और सब कुछ अरुण बन गया। और इसके बाद प्रथम आलिंगनपर ऐसा लगा कि अरुणकी मायाका लोप नील-बैंगनीमें हो रहा है, धीरे-धीरे वह बैंगनी मन भी संकुचित होकर छोटा दायरा पकड़ रहा है। अन्तमें लगा कि एक खूब सूरत मेघ हमारे और ओद्युसियसके चारों ओर छा गया है। हम दशों दिशाओंसे बन्द मेघगृहमें हैं। इसकी बैंगनी दीवारें हैं। हायसिन्थ फूलोंकी बैंगनी

---

१. यहाँ ग्रीक 'रति' (अफ्रोदीती) और ग्रीक 'कार्तिकेय' (ओरस) से तात्पर्य है। अफ्रोदीती है—प्रेम-सौन्दर्य और वासनाकी देवी तथा कामदेवकी माँ। ग्रीक-पुराणोंमें 'काम' अन्धेपर पुष्पधन्वा शिशुके रूपमें वर्णित है। 'ओरस' युद्ध-देवता है। हिन्दू साहित्यके कुमार कार्तिकेयके चरित्रसे इस समानताके अतिरिक्त और कोई भी साम्य नहीं। अफ्रोदीतीका विवाह कुबड़े विश्वकर्माके साथ हुआ था अतः देवीका चरित्र अति चपल और वासनापरक हो गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शय्या है जिसमें रह-रहकर क्रोकसके पीत-अरुण पुष्प चटखकर फूटते हैं, फिर बैंगनी अन्धकारमें समा जाते हैं। इस मेघगृहकी बैंगनो दीवारोंके बाहर क्या है, पता नहीं। मेघगृहकी छतोंसे इस एकान्तमें हम दोनोंपर हलकी फुही पड़ रही थी। मैं भींग रही थी, मेरा देवोपम ओद्युसियस भींग रहा था। पता नहीं कितने पल कितने क्षण यह मायागृह बना रहा। पर इसकी स्मृति अब भी धुली नहीं, यद्यपि बीस वर्षोंसे उस ओद्युसियसकी प्रतीक्षा कर रही हूँ, बीस वर्षोंसे उसका मुख देख नहीं पायी।

मुझे लोग राजहंसी वधू कहते थे। पिताने बचपनमें मुझे मनहूस मानकर समुद्रमें फेंकवा दिया। मुझे निगलनेके लिए सागरके जीव दौड़ नहीं पड़े, बल्कि क्रूर वरुणकी कृपासे राजहंसोंकी एक बलाका अचानक उतरी और मुझे घेर लिया। मैं समुद्रकी लहरोंपर राजहंस पक्षियों-द्वारा पालित हो रही हूँ, यह सुनकर पिताका मन बदला और मदिरावर्णी नील समुद्रसे, क्रूर वरुणके लिए एक बलि प्रदान कर, पिताने मुझे धीवरोंसे जाल लगवाकर निकाल लिया। मैं बड़ी हुई। सभी मुझे प्यारसे राजहंसी—'पिनीलोपी'—कहने लगे अन्यथा मेरा पहला नाम था 'अर्नाइया'। मेरी चचेरी बहन हेलेनकी तुलनामें मेरे सौन्दर्यकी उतनी विशेष चर्चा नहीं हुई। पर मैं भी स्वयंवरा हुई और पग-दौड़की शर्त मेरे वरणके लिए रखी गयी। स्वयंवरा थी पर वरणका आधार प्रतियोगिता थी पग-दौड़की। हमारे हीरोइक युगका आदर्श ही यही है। हम वीरभोग्या होती हैं। सर्वश्रेष्ठ वीर हमें भोगनेका अधिकारी है। हमारे हृदय और किसी ओरके रूमानका कोई अर्थ ही नहीं होता है। हमारे हीरोइक-युगमें नारी-सौन्दर्यकी गरिमा इसीमें है कि उसके लिए ट्रॉय जले, महाभारत ठन जाये, देवासुर-संग्राम हो और उसकी सौन्दर्य-शिखामें हजारों नरमुण्डोंकी आहुति पड़े। हमारी सार्थकता ही इसीमें है। हेलेनने यही कर दिखाया। पर मैं दूसरा ही मूल्य खोज रही हूँ। हाँ तो, मैं स्वयंवरा थी और मुझे जीता कौन? एक छोटी टाँगोंवाला पर अति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विशाल स्कन्ध वाराहपुरुष जो नारियोंसे घिरे होनेपर घने बालवाले क्रुद्ध मेषकी तरह लगता था, जो सभामें बैठनेपर या बोलते हुए सारी सभाका सरताज बन जाता था और जो नारियोंको बेहद सन्तुष्ट कर सकता था! वह बना मेरा देवोपम पति ओद्युसियस। ओह, चक्रपाणि इन्द्र, ओह पिंगलनेत्रा देवी, शूलधारिणी एथनी, क्या वह अब भी जीवित है और कहीं दूर काले समुद्रमें इन दुष्ट प्रेम-याचकोंके लिए, जो मुझे रात-दिन घेरे हैं, मृत्यु और क़िस्मतके बीज बो रहा है? वज्रधर इन्द्र, क्या मुझे सिंह-पत्नी होकर किसी शृगालकी शय्यापर जाना होगा?

आजसे क़रीब बाईस वर्ष पूर्व

प्रथम बार जब वह मिला तो उसके शरीरपर बैंगनी रंगका दुहरा कुर्त्तक था जिसमें गलेकी बग़लमें कन्धेके पास एक स्वर्ण 'ब्रोच' फँसा था। उस 'ब्रोच'की नक़्क़ाशीको मैंने नज़दीकसे देखा—एक छटपटाता हुआ मृगशावक और उसे तोड़ता हुआ एक क्रुद्ध श्वान! प्याज़के छिलकेकी तरह चमकदार अरुण-नील आभावाला कुर्त्तक और उसके नीचे चौड़ी कठोर चट्टान-सी छाती! आश्चर्य नहीं कि वह मायाविनी अप्सराओंकी भी कामनाको जगा दे! मेरे पिताने कहा था कि वह मेरे पितृदेशमें ही रहे। वहाँ मातृ-सभ्यता तो नहीं है, शासन पुरुष ही करता है, पर सम्पत्तिकी स्वामिनी होती है पुत्री। पर ओद्युसियसने हठ किया कि वह अपनी स्वयंवरा वधूको लेकर घर जायेगा। पिताने निर्णय मुझपर छोड़ दिया और मैंने ओद्युसियसके लहराते अयालोंके दो घोड़ेवाले रथपर सवार होकर एक बार स्पार्टाकी ओर ताका और फिर मुँहपर अवगुण्ठन डाल लिया!

इथाका आकर मातृवत् स्नेह मिला, पतिकी धातृ यूरीक्लाइयासे। इसे मेरे श्वसुरने, इसकी यौवनश्री जब विकसित हो रही थी, तब बीस बैल देकर खरीदा था। पर पत्नीके डरके मारे कभी भी इसे अपनी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शय्यापर नहीं बुला सके। यह बादमें मेरे पुत्र तेलोमेकसकी भी धाय बनी। वह मुझे स्नान कराती, जैतूनका तेल मलती, केशोंको पीछेकी तरफ़ खींचकर पुच्छविन्यासमें या मधुचक्र-विन्यासमें बाँधती और शय्याघर-में प्रवेश करती। महादुर्गा त्रिशूलधारिणी 'एथनी' की प्रार्थनाके बाद तो मैं गृहमें जाती थी। यह हमारी कुलदेवी है। आज भी प्रतिसन्ध्याको इसे गन्ध-धूप और श्वेत ऊर्णा चढ़ाती हूँ। वह मेरे प्रवासी पतिकी रक्षा करे।

फूलशय्याकी रात्रिके पहलेकी सन्ध्याको हमने इस इन्द्रपुत्री 'एथनी' तथा इन्द्रपत्नी 'हीरी' को एवं महाशक्तिमान् वज्रधर इन्द्रको बलि अर्पित की थी। वेदी रचकर जौका आटा छिड़का गया, फिर एक श्वेत वृषभ और एक अक्षतयोनि वत्सरीको सामने लाये। पहले उसके माथेसे कुछ बाल नोचकर सामने अग्निकुण्डमें डाले। इसके बाद परशुके एक-एक आघातसे बलि-पशुओंका सिर अलग हो गया। मैं सावधानीसे पात्र लिये खड़ी थी—पवित्र बलि-रक्तको रोप लेनेके लिए, जिससे वह धरतीपर न गिरे। इसी समय परिवार और परिजनकी स्त्रियोंने पवित्र ध्वनिका उच्चारण किया। जब काला रक्त बह चुका तो बलि-पशुकी जाँघोंको काट-काटकर हड्डी और चरबीका अग्निमें हवन किया। यूपकाष्ठसे संयुक्त अग्निशिखापर पहली आहुति मेरे और ओद्युसियस-द्वारा दी गयी। जाँघों-की आहुति देनेके बाद हमने वेदीपर पवित्र काली मदिराका अर्घ्य गिराया और प्रार्थना की—'हे एथनी, तू हमें जय दे। हे हीरो, तू हमारे पवित्र जीवन और सौभाग्यको अचल रख। हे शक्तिमान् वज्रधर, तू सब तरहसे हमारा कल्याण कर।'

फिर सबने अपने-अपने सींकचोंपर बचे माँसको भूना और मधुस्वाद गोधूमकी रोटियों तथा बैंगनी अंगूरोंकी काली-मदिराके साथ सहभोजको सार्थक किया। ओद्युसियस और मैंने देवताओंके आशीर्वादके साथ शय्याघरमें प्रवेश किया। शय्यामन्दिर और शय्या दोनोंका निर्माण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ओद्युसियसने स्वयं किया था। वहाँ उसने एक गोपनीय बात यह बतायी कि यह शय्या अचल है। इस रहस्यकी एक साँस भी मेरे और उसे छोड़कर तीसरा कोई भी पा नहीं सका है। यह मनके एकान्तकी अन्तिम निधि है, और इसीसे मैं वंचनासे त्राण पाऊँगी।[1] यह अचल शय्या हमारे सम्बन्धका प्रतीक है। ओह ओद्युसियस, तुम्हारी शय्या अब भी अचल व्रतमें है। अब भी वह तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है!

अचल शय्याव्रत! इस देश और इस कालमें यह एक अनोखा प्रण है। नारी भोग्या है। वह शय्याव्रती क्यों रहे? वीरका अंक ही उसकी शय्या है। अन्द्रोमेशी वीरपति हेक्टरके मर्मकी स्वामिनी थी तब भी परिघातकके पुत्रकी प्रणयिनी बनकर प्रसन्न है, रानी बनी है। इथाकाके लोग कहते हैं, मेरा शय्याव्रत रीति-विरोधी है, लोकमत-विरोधी है। पर मन तो नहीं मानता। मेरा वीर क्रूर वरुणके क्रोधको झेलते हुए थका-हारा जिस दिन इस द्वारपर खड़ा होगा, उस दिन यह शय्या सार्थक होगी। मेरा मन ग्रीक नारियोंकी तरह लालसा-नील नहीं है। उसमें मदिराका नीलवर्ण नहीं। उसमें प्रगाढ़ अन्धकार नहीं। वह तो उदास पीत-अरुण है। मेरे मनके अन्तरालमें इथाकाके पहाड़ी ढालोंका नव वसन्त सदैव छाया रहता है। कुसुम्मी मन! इन तीस वर्षोंमें कामनाके बैंगनी हायसिन्थोंको मैंने मनमें फूटने ही नहीं दिया—पीत-अरुणका उदास रंग उस दिन चटक हो उठेगा जब मेरा थका हुआ वीर इस वास-गृहके द्वारपर खड़ा होगा। तबतक वायु और आकाश दोनोंका मनमें रंगहीन प्रसार ही होगा।

---

१. ओद्युसियसने एक ओकवृक्षको जड़के कुछ ऊपर काटकर शय्याका एक पाया बनाया था। इस प्रकार यह अचल शय्या थी। पर इस रहस्यको पति-पत्नीके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं जानता था। पिनीलोपीने इस तथ्यका उपयोग २० वर्ष बाद आये पतिकी परीक्षाके लिए किया। उसने दासीसे शय्याको बाहर निकालनेको कहा। इसपर लौटे हुए नायकने कहा—'ओह मेरा हृदय फट गया। पिनीलोपी, तूने मेरी शय्याको क्यों काटकर अलग किया!' इसीसे वह पहचान गयी—यह उसका पति ही है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परन्तु ये मेरे उद्दण्ड प्रणयी ? ट्राय-युद्ध दस वर्ष हुए, समाप्त हो गया। योद्धा घर लौट आये। केवल इथाकाके वीरपुत्र ही नहीं लौट पाये। कोई ठीक नहीं कि वे लौटेंगे ही। समुद्रकी गरजती सतहपर कठोर धनुषधारिणीके रजतवाणोंकी चोट खाकर मेरा वीर सम्भवत: अन्धकारमय मृतक-देशमें चला गया, कि अब भी वह कहीं विशाल अतलके किसी कोनेसे इन उद्दण्ड प्रणयियोंके लिए मौत और क़िस्मतके बीज बोता हुआ आ रहा है इसी इथाकाकी ओर—इसका कोई ठीक नहीं। इस बीचमें इथाकाके ये तरुण विवाह-प्रस्तावसे मुझे तंग कर रहे हैं। मैंने इनसे कहा—"अभी ठहर जाइए, मैं वृद्ध श्वसुरके लिए क़फ़न बुन रही हूँ, जो इस वृद्धावस्थामें भी बाहर-बाहर ढोरों और अंगूरके बाग़ोंमें परिचारकोंके साथ रहते हैं।" मैं प्रतिदिन दिन-भर बुनती और रातको उभार देती। इस तरह तीन साल यह क्रम चला। पर मेरी ही एक दासीने यह रहस्य बता दिया। अब वे सब पाँच सालसे मेरे घरपर टिके हैं, मेरा अन्न खाते हैं और मेरी मदिरा पीते हैं, मेरी दासियोंके साथ बलात्कार या प्रणय करते हैं, और मेरे पुत्रकी सम्पत्ति बरबाद करते हैं। मैंने इथाकाके वृद्धोंसे निवेदन किया तो उन्होंने चेहरेके सामने स्वर्ण राजदण्ड हाथमें रखकर घोषणा की कि एक पतिहीन सुन्दरी तरुणीसे प्रणय-निवेदनका अधिकार इथाकामें मान्य परम्परा है। मेरा पुत्र टेलीमेकस अब जवान हो चला है। सब्ज़ए ख़त उगने लगा है और रुख़सारका रंग बदलकर कठोर हो गया है। उसे भी अब यह पसन्द नहीं कि मेरे नामपर उसकी सम्पत्तिका स्वाहा हो। आज नहीं तो कल मुझे निर्णय लेना ही होगा। मुझे वरण-स्वातन्त्र्य कहाँ है ?

कल सारी रात यह बुलबुल रोती रही। यह पण्डारियसकी पुत्री है। जब-जब नये वसन्तका जन्म होता है यह सारी रात रोती है। इसने अनजानमें ही अपने प्यारे पुत्र इत्युलसकी हत्या कर दी थी। इसीसे रात-रात बुल-बुल बनकर भटकती है और इसकी व्यथाका अन्त नहीं। क्या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मैं अपने प्रिय पुत्र तेलीमेकसके साथ इस भवनमें रह सकूँगी या इन तरुणों-में-से किसीको चुनना होगा जो मेरा सर्वोच्च 'वधू-मूल्य' देगा ? हाँ, 'वधू-मूल्य' ही की तो अब बात रह गयी है। अनुराग और प्रणयका प्रश्न कहाँ है ? ग्रीकोंमें वधू-मूल्य देकर वधू लानेकी परम्परा है ही, तो 'वधू-मूल्य' लेकर अपने पुत्रको देनेमें मुझे क्या संकोच है ? और यों प्रेमोपहार तो प्रतिदिन ले ही रही हूँ ! एथनीकी आज्ञा है। एक झूठे सूत्रमें उन्हें अटकाये न रखूँ, तो कल ही ज़बरदस्ती वे मेरे पुत्रको मारकर सब कुछ अपहरण कर ले जायें। मुझे स्मरण है, प्रथम बार मैं प्रेमोपहार लेनेमें हिचक रही थी कि एथनीने मेरी दूरस्थ बहनके वेशमें मेरे कक्षमें प्रवेश किया और मुझे उक्त आदेश दिया—फिर मुझे लगा कि अचानक मेरे शरीरके जोड़ ढीले हो गये और मैं निढाल होकर स्वप्नावस्थामें चली गयी। फिर एथनीने मेरे मुखमण्डलपर वह कपाल-राग मल दिया जिसका उपयोग सौन्दर्यकी तीनों देवियाँ सुर-सभामें नृत्यके पूर्व करती हैं, और मेरा क़द भी ऊँचा कर दिया। मेरा रंग नये तराशे हाथी दाँतसे भी श्वेत हो उठा था, और संगमरमरकी ऊँची प्रतिमाकी तरह मैं जगी और प्रणयियोंके बीच जाकर खड़ी हो गयी—देखते ही कुछको पसीना छूट गया, कुछ काँपने लगे और प्रायः सभी घुटनेके बल बैठकर अपने उपहार समर्पित करने लगे। यह सब भ्रान्ति थी, छलना थी, पर एथनीकी इच्छा है कि अपने पुत्रकी सुरक्षाके लिए इस छलनाकी सृष्टि करती चलूँ, मायाविनीकी सनातन भूमिका अभिनीत करती चलूँ जिसके लिए नारी बदनाम है।

हर रातको गरजती हुई मदिरावर्णी तरंगें अशुभका संकेत देती हैं। इथाकाके चारों ओर गरजता हुआ क्रूर वरुण है। यह साक्षात् काल है। इसीके उदरमें इथाकाकी समस्त जलपोतवाहिनी, जो ट्रायके युद्ध-क्षेत्रसे लौटी, समा गयी है। वरुण बड़ा ही क्रूर देवता है। इसकी मायाविनी मत्स्यकन्याएँ इसकी छिपी क्रूर चट्टानोंकी ओर नाविकोंको बुलाकर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जलपोतोंका ध्वंस करती हैं। शोभाकाल-व्याध बन जाती हैं। इसी क्रूर वरुणकी भृकुटिके हलके इशारेपर उनचासपर गरजते हुए समुद्रमें अशुभकी कृत्तिकाएँ पैदा करते हैं। जो मुँह बाकर जल-यात्रियोंको लील जाती हैं। एथनी, एथनी, इन्द्र-पुत्री माँ एथनी, मैं तुझे प्रतिदिन गन्ध-धूम, पवित्र ऊन तथा पुष्प प्रदान करती हूँ। माँ, तू अपने पितृव्य क्रूर वरुणसे मेरे भटके हुए पतिकी रक्षा कर। पर कभी-कभी लगता है कि इस प्रार्थनाका कोई अर्थ नहीं। ट्रायकी नारियोंने इन देवताओंकी वेदियोंपर जितना मदिराका अर्घ्य गिराया उससे एक नदी बह जायेगी। पर उनके सामने ही छोटे-छोटे शिशुओंको चट्टानोंपर पटककर मार डाला गया, उनके साथ ग्रीकोंने बलात्कार किया, उनकी कितनी कुमारी पुत्रियोंको ग्रीक-योद्धाओं-की समाधियोंपर बलि दी गयी कि मृतात्माएँ भी इस भोगसे वंचित न रहें। इन देवताओंका अनुग्रह किसी ऋतुचक्रपर आधारित नहीं है। यह पूर्णतः विसंगत और युक्तियुक्तताहीन है। फिर भी मनको बाँधनेके लिए एक खूँटा चाहिए नहीं तो वह दर-दर भटकेगा और व्यथा पायेगा, इसकी तुलनामें इस एक क्षणका आशावाद भी कम मूल्यवान् नहीं।

नीचेके विशाल बैठक-कक्षसे वीणाकी आवाज़ आ रही है। चारणोंको ज़बरदस्ती पकड़कर मेरे तरुण प्रणयी ट्राय-विजयका गान गवा रहे हैं।— ट्रायकी विजयका गान—एकिल्लीसके क्रोधका गान—मेरे वीरकी कूट बुद्धिका गान—नरसंहार, अग्निज्वाला, वासना और बलात्कारका गान। मनुष्यकी कीर्तिबलाकाके पंख सदैव रक्तमें डूबे क्यों चलते हैं? शायद रक्त मरता नहीं। रक्त बदला लेता है—रक्तके बदले रक्त, यह नियतिकी आज्ञा है। तो क्या उस निर्मम धनुषधारिणीका तीर उसी रक्तके प्रति-शोधके लिए मेरे विजयी तीरपर छूट पड़ा है? क्या क्रूर वरुणकी मुख-गुहासे वह बाहर आ सकेगा? यदि नहीं आया, तो अधिक दिन मैं टाल नहीं पाऊँगी। द्वितीय बार स्वयंवरा बनना पड़ेगा। पर मेरी शर्त क्या होगी? सर्वोच्च वधू-मूल्य? छिः-छिः, इस तरह तो दास-पुत्रियाँ खरीदी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाती हूँ। मेरी शर्त होगी—अपने वीर पतिके धनुषको चढ़ानेकी। जो मृत ओद्युसियसके धनुषको चढ़ा सकेगा वही उसकी पत्नीको भी भोग सकेगा। और मैं जानती हूँ कि एथनीके आशीर्वादसे हमारे कुलको छोड़कर अन्यके द्वारा उसपर प्रत्यंचा चढ़ ही नहीं सकती।

बीते दिनोंकी याद आती है—

अंगूरकी लताओंपर बैंगनी फलोंके पके गुच्छे लटके थे। झड़कर सड़े फलों-के कारण सारा उद्यानका उद्यान मदिराकी सुगन्धसे सुवासित था। ग्रीक मदिरा और अंगूर भी ग्रीक वासना, ग्रीक लालसा और गरजते ग्रीक वरुणालयकी तरह तमस् नील होते हैं। उन दिनों ओद्युसियसके साथ मैं अंगूरकी फ़सल चुननेके त्योहारपर खेतोंपर जाती थी। रजत-हरित बासों-पर लिपटी अंगूर लताएँ और रस-भरे फलोंके गुच्छे चारों ओर छिटके थे। सुन्दर केशोंवाला किशोर गायक, जिसके कपोलोंकी लुनाई जवानीके कारण कठोर नहीं हुई थी, बीनको छेड़ता था और पैरोंसे ताल देता हुआ किसी देवता या मनुष्यके प्रणका गान करता था—लोग उसकी टेकको दोहराते और हाथसे अंगूर चुनते चलते थे। समस्त छन्दबद्ध व्यापार था। धीरे-धीरे दिन बीतता। शाम आती। अंगूरोंके टोकरे घर पहुँचते और गीतोंकी बलाका बसेरा लेती। इथाकाके काले समुद्रपर पीत-अरुण सन्ध्या उतरती—फिर धीरे-धीरे यह सागरकी कालिमामें घुल जाती और मनके पीत-अरुण भाव भी सुनील और अन्तमें प्रगाढ़ तमस्-नील होकर आंखोंपर छा जाते। मन मूढ़ हो जाता, छले जानेके आत्मपीड़नका सुख भोगता और दूर वातायनोंसे मदिरा श्याम-नील समुद्रके अन्धकारमें डूबी सतहका कोई छोर चांदीकी तरह चमकता—किसी अदृश्य लीकसे पड़ने-वाली अविराम प्रकाश-धाराके कारण। प्रकाशमोहके नील-तमस् क्षणोंमें सदैव मेरे और ओद्युसियसके मनको धोता रहता था। उस प्रकाशका स्रोत क्या था, पता नहीं। पर आज वह प्रकाश दरिद्र है। और वह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छन्द मर गया है।

फिर ग्रीष्म आता। हम जौके पके खेतोंपर जाते। अनुचर जौ काटते। एक ओर उनके लिए कोई परिचारिका जैतूनका तेल डालकर जौकी लपसी तैयार करती। दूसरी ओर एक पशु काटा जाता। खूब भोजन—खूब परिश्रम। यह एक दूसरे ही क़िस्मका छन्द था—वसन्तके छन्दसे अलग।

कभी-कभी ऐसा होता है कि खड़ी सींगोंवाला कोई प्रणयरत गरजता हुआ वृषभ गायोंके झुण्डमें अकेले विहार करता है, और पीछे-पीछे तीन चरवाहे और नौ कुत्ते भी चलते हैं, तभी मरमर करके बहती नदीके किसी एकान्त तट-खण्डके पास काँपते हुए हरे-हरे सरकण्डोंके वनोंसे कोई बाघ झपटता है और उस काममत्त सबल साँड़को एक ही बारमें तोड़ देता है—फि आदमी भग जाते हैं और कुत्ते दूर-दूरसे भूँकते हैं—और वह व्याघ्र उसके टुकड़े-टुकड़े करके रक्त पीता है, जीभसे होठ चाटता है और फिर प्रसन्नतासे दाँत निकालकर गुर्राता है। उसी प्रकार लगता है कि मेरे महा सबल पतिका भी किसी क्रूर देवताने पौरुष कालमें ही संहार कर डाला है। स्वभावसे ही ओद्युसियस अभिमानी था। इन्द्र और एथनीको छोड़कर अन्य सभी देवताओंका मज़ाक़ उड़ाया करता था। हो सकता है कि आदित्य या वरुण या चन्द्रमाका रोष उसे भोगना पड़ा हो। यों, यह बात मुझे और मेरे पति तथा मेरी स्वर्गीय पति-मातृको छोड़कर औरोंको मालूम नहीं कि मेरा पति मेरे वर्तमान श्वसुरकी सन्तान न होकर प्रख्यात सिस्युफ़सकी जारज सन्तान है। वही सिस्युफ़स जिसने कालके आज्ञावाहक 'मृत्यु' को ही क़ैद कर लिया और देवराज इन्द्रको कई बार छला और जो आज भा चोटीपर पत्थर ढकेलने और फिर फिसल जाने तथा फिर ढकेलनेका 'निरर्थक' इन्द्र-शाप अब भी भोग रहा है। यह उसकी माता एण्टीक्लीयाने मरनेके पूर्व मुझसे कहा था।

नीचेके कक्षमें फिर शोरग़ुल और मारपीट हो रही है। इनसे प्रणय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कोई कैसे करे ? इस वसन्तके जन्मके अवसरपर पहलेके गाये एक पुराने गीतकी याद आ जाती है। पंक्तियाँ ठीक-ठीक याद नहीं पर कुछ इस प्रकारका था :

"महाकाश छटपटाता है धरती वधू को बाँहों में घेरने के लिए
वधू-धरित्री भी वैसे हो संयोग की आकांक्षा से पीड़ित है....'[1]

—प्रणय सृजनके लिए होता है और सृजन एक व्यथापूर्ण प्रक्रिया है। यह व्यथा तभी बाँटी जा सकती है जब दोनों ओरसे समान अनुराग, समान आकर्षण और समान छटपटाहट हो। यही सृजनकी व्यथाका मूल्य है। अन्यथा प्रणय और बलात्कारमें भेद क्या है ?

मन प्रायः स्वप्न देखता है कि ओद्युसियस मेरे शय्याघरके द्वारपर अब जल्दी ही आयेगा और इस वर्षका वसन्त-जन्म सार्थक होगा। तरुण और तरुणियाँ एक-दूसरेका हाथ पकड़े वृत्ताकार नृत्य करेंगे। हम तरुणियोंके शरीरपर मुलायम मखमल रहेगा और उन तरुणोंके तनपर हंसपंखी चमचम कुर्त्तक। एक-दूसरेके साथ ये खूब फबेंगे। तरुणियोंके ललाटपर अरुण-पीत क्रोकस और बैंगनी हायसिन्थोंकी मण्डलाकार माला रहेगी और हमारे तरुण प्रियगण अपने ललाटोंपर नये पवित्र जैतूनकी हरी-श्यामल पत्तियोंका मुकुट बाँधे होंगे। हमारी कमरमें रजतमेखला होगी, उनकी कमरमें स्वर्ण-कुन्त। हम धरित्री माताकी प्रार्थना करके नाचेंगे। फिरसे छन्द पैदा होगा। मेरा छन्द फिरसे प्राण पाकर जी उठेगा। उसके संजीवनकी मायामें हम कुम्हारके चक्रकी तरह घूम रहे होंगे। धरती, विश्वप्रकृति, महाकाश और हमारा मन सब वृत्ताकार पथपर घूम रहे होंगे। दो बीन-वादकोंके तालपर मण्डलाकार सतत गतिमें धरती, आकाश और मन स्थिर हो जायेंगे—यह छन्द-बद्ध गीत ही सहज थिरता है ! उस गतिबद्ध थमे क्षणकी प्रतीक्षा है। वज्रधर इन्द्र और पिंगलनेत्रा एथनी मेरे विश्वासकी रक्षा करें। ■

१. एस्कीलसके एक नाटकसे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यायावर-रस

ओद्युसियसने कहा :

तुमने चतुष्कोण वेदी नहीं बनायी; वृषभ काटकर ताज़ा काला खून नहीं गिराया, जौका आटा और मधु नहीं छिड़का, कृष्णवर्णी मदिराकी धार नहीं दी, फिर भी मैं तुम्हारे स्मरण करनेपर प्रेतलोकसे यहाँ आ गया। मुझे मालूम है कि यह महाकाव्य-युग नहीं है जो तुम हीरोइक युग-की शैलीमें प्रेत-आवाहन करो—पुराने अदब-क़ायदेकी मैं तुमसे अपेक्षा नहीं करता। पर जब मैं अपने नायकत्वका जामा-जोड़ा फेंककर तुम्हारे पत्रकार युगके अर्घ्यहीन आतिथ्यको बुरा नहीं मानता, तो तुम क्यों अपने संस्कारोंके पैटर्नसे हमारे भाव-बोध, रस-बोधको नापते हो; मीन-मेख निकालते हो, थू-थू, छी-छी करते हो? तुम सोच ही नहीं सकते वह महाकाव्य-युग कैसा था। वे वीर कैसे थे, यह तुम कल्पना भी नहीं कर सकते। यों होमरको तो पढ़ा ही होगा। तुम बेचारे बौने हमारे युगके नायकोंके स्वाद-बोध, संगति-बोध और भाव-बोधको क्या जानो? हम अर्धदैवी पुरुष थे। हमें देव-पत्नियोंकी बग़लमें सोनेका मौक़ा मिला था और हममें बहुत-से गुप्त या प्रत्यक्ष रूपसे देववीर्यसे उत्पन्न हुए थे। वह झबरा-झबरा युग था, खूब झमार घने श्यामल भाव-पल्लवोंवाला युग। उस युगके दो ही स्थायी भाव थे लालसा और भय। करुणा नहीं। इस हीरोइक युगके बीतनेपर क्लासिकल युग आया। तब ये भाव-पल्लव पीले पड़ गये थे। तब ट्रेजेडी लिखी गयी और चिन्तनका विकास हुआ। तब

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उस युगमें करुणा भी स्थायी भाव बनी। महाकाव्य-युगके मूल भाव हैं 'लालसा' और 'भय', ट्रैजेडी युगके अन्दर जब मनुष्य कमजोर हो गया तो यह 'करुणा' और 'भय' हो गया। लालसा कमज़ोर पड़ गयी।

नारीके प्रति हमारी रति लालसा-मात्र थी। श्रद्धाप्रेरित रागबोधका, प्रियाके प्रति 'स्वामिनी' भावका, कामायनी रतिका, अभी जन्म नहीं हुआ था। नारीके प्रति हमारा राग-बोध ऐन्द्रिक था। वह द्रवीभूत नहीं हुआ था। तुम सोच सकते हो कि उस आदिम बनैले युगमें, आक्रमणों और प्रतिरोधोंके जीवनमें, युद्धमें या शिकारमें, पुरुष साथी अधिक सत्य था बनिस्वत अन्त:पुरकी नारीके। पुरुषका पुरुषके प्रति प्रेम आज तुम्हें अप्राकृतिक और हास्यास्पद लगेगा। पर प्लेटोके युग तक स्पार्टामें वह समाज स्वीकृत था। स्वयं प्लेटोने काव्य-विरोधी होते हुए भी निरन्तर संघर्षमें लगी वीर-जातिके लिए इसे सहयोगी भावको जन्म देनेवाला साधन मानकर स्वीकृत किया है। हमारे देवराज जेउस स्वत: एक सुन्दर किशोर गनीमेदको रखे हुए थे। नारसिससकी कथा तो जानते ही होगे। इस सुन्दर किशोरसे प्रताड़ित कितने ही प्रणयी पुरुषोंने उसके द्वारपर जाकर आत्मघात कर लिया। देवराज इन्द्र उसके हृदयकी कठोरतापर अत्यन्त क्रुद्ध हुए और उन्होंने उसे अपनी ही छायासे प्रणय करके आत्मघात करनेका शाप दे दिया। आज जीवनका रूप बदल गया है अत: यह अप्राकृतिक लगता है। पर हमारे आदिम युगका जीवन ऐसा था, प्रकृति ऐसी थी, कि 'प्रिया'से 'साथी' अधिक उपयोगी और अधिक मनके निकट था। होमरके 'इलियड'का तो विषय ही यही है : ग्रीक वीर एकिलीसका रुष्ट हो जाना, फिर अपने किशोर सखाके मारे जानेपर शस्त्र ग्रहण करना और ट्रोजन वीरहेक्टरका वध करना।

नारीको हम लोग क्षणिक ईहा या लालसाकी तीव्र अग्नि-शिखा मानते थे। और हम भी उसका उपयोग ईहामृगकी भाँति करते थे। ऐन्द्रिकता मात्रपर सैडिज्म नहीं, कुण्ठा नहीं। नारी मात्र 'सरसी' है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मायाविनो हैं, ऐसा हम सभी मानते थे। तुमने 'ओडेसो' तो पढ़ा होगा, जिसे होमरने मुझे नायक मानकर लिखा है। समुद्रकी बाधाओंसे लड़ते-लड़ते हम वरुणके बेटेके द्वीपसे जा टकराये। वहाँ उस एकाक्ष भीमकाय देवपुत्रकी आँख फोड़कर हमने उसे अन्धा कर दिया। फलतः समुद्र देवता वरुणके क्रोधका दण्ड हमपर गिरा। हमारी जलवाहिनी भटकती-भटकती मारुत द्वीपमें पहुँची। वहाँके स्वामीने हमारे घर पहुँचनेके लिए अनुकूल वायु प्रदान की और प्रतिकूल पवनोंको एक थैलेमें बन्द करके मुझे दे दिया। पर जब मैं सो रहा था तो एक नाविकने उस थैलेको खोल दिया। फलतः उनचास पवन हाहाकार करके बह उठे, हा-हा बांधकर सागर हमपर टूट पड़ा और वरुणके उन्मत्त लहरोंके धक्के खाते-खाते हम विश्वके अन्तिम छोरपर पहुँच गये जहाँ दिन और रात परस्पर क्षण-भरके लिए आमने-सामने होते हैं और बिना रुके अभिवादन करते हुए अपने-अपने मार्गपर चले जाते हैं—सन्ध्या और उषामें एक क्षणका अन्तर होता है। वहाँ ताल वृक्षसे भी ऊँचे अतिमानवोंका देश है। उन्होंने हमारी सारी पोत-वाहिनीको नष्ट कर दिया, हमारे सारे नाविकोंको खा डाला। किसी तरह मैं अपना पोत लेकर भागा और भटकता-भटकता दो-चार नाविकोंके साथ मायाविनी देवनारी 'सरसी'के द्वीपसे जा टकराया।

इस मायाविनी समुद्र-कन्या, इस सागरिका सरसीका आवास घने ओक वृक्षोंके बीच द्वीपके मध्यमें था। एकाक्ष असुरों और तालाकृतिक मानवोंका दुःखद अनुभव हमें हो चुका था। जब मैंने अपने कुछ साथियों-से अग्रिम दलके रूपमें जानेको कहा तो मारे भयके वे पीले पड़ गये। अन्तमें अल्सीनोअस साहस करके गया। सघन वनके मध्यमें सरसीका प्रमद वन था। उसमें चारों ओर भयंकर बाघ-चीते खुलेआम घूम रहे थे। मेरे साथी थर-थर कांपने लगे। पर आश्चर्य, वे बाघ-चीते पूँछें हिलाते हुए उनके पास आये और अपने दोनों पिछले पैरोंपर मनुष्यकी तरह खड़े होकर गले मिलनेकी मुद्रा प्रदर्शित की। उन्होंने बड़े प्यारसे मेरे साथियों-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के हाथोंको चाटा और उनकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह निकली। मेरे साथी डरे हुए थे, फिर भी उन्होंने डरते-डरते उन जानवरोंको थपथपाया। उन्हें कुछ आगे बढ़नेपर नारी कण्ठका संगीत और करघेकी ध्वनि सुनाई पड़ी। प्रमोद-प्रासादमें प्रवेश करनेपर अपूर्व सुन्दरी 'सरसी'से उनकी भेंट हुई। जौ और मधुकी मदिरामें सम्मोहन-द्रव्य मिलाकर उसने उनका सत्कार किया—फिर द्रव्यपान करानेके बाद उन्हें जादूकी छड़ीसे स्पर्श किया और वे शूकर बन गये। अल्सीनोअस चालाकीसे बाहर रह गया था। उसने आकर मुझसे कहा। मैं अकेले सरसीकी क्रीड़ा-भूमिकी ओर चला। रास्तेमें देवता हरमीसने उसकी शक्तिका रहस्य बताकर मुझे एक गन्ध-पुष्प दिया। उसकी गन्धके कारण सरसीके सम्मोहनका मेरे ऊपर असर नहीं हो सका। मेरे पुरुषने उसके नारीत्वको सम्पूर्णतः जीता। बदलेमें उसने मेरे साथियोंको मायासे मुक्त कर दिया। वहाँ उस अनावृत श्वेत कन्धोंवाली नायिकाकी बाहु-लतामें मैंने एक वर्ष बिता दिया।

वसन्तमें हम आये थे जबकि देवदारुओंकी श्यामल छायाके नीचे वायु सुखद थी। फिर दुबारा वसन्त आ गया और अंगूरोंकी लताएँ रससे भर गयीं। हवा बदली। मन बदला। अन्दरका लालसा-धूम्र छिन्न-भिन्न हो गया, और चित्त चमचमाते ताम्रवर्णी आकाशकी तरह प्रखर और साफ़ हो गया। मैंने सरसीसे विदा माँगी। यह हीरोइक युग था। सच्चा हीरो रमणी-भोगके पाशमें पड़कर सुअरकी तरह जीवन नहीं बिता सकता। ऐसे नारी-प्रेममें कोई गरिमा नहीं है। यह शिश्न-जीवी प्रेम मांसकी गठरी ढोनेवाले कुत्तेकी तरह है। यह पौरुषका अपमान है। यह मृत्युकी उपासना है। हमारी संस्कृति भोगप्रधान अवश्य थी। पर उसने भोगको बन्धन रूपमें वरण करके मृत्युकी उपासना नहीं की। पर तुम, पाखण्डी, कुण्ठित मनवाले हमारी भोग संस्कृतिका मज़ाक़ उड़ाते हो और 'नये रूमान'के नामपर मृत्युकी उपासना करते हो। हाँ, ईसाई और वैष्णव जानते थे कि आदमी कमज़ोर हो गया है और प्रणय-भोग मरणकी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपासना है। इसीसे उन्होंने प्रणय-भोगके मरण-तत्त्वका परिहार, प्रणयको अशरीरी और ऊर्ध्वगामी बनाकर कर लिया। इसीलिए उन्हें अमृत भी मिल गया। हमारे हीरोइक युगमें आदमी कमज़ोर नहीं था—उसका मन मज़बूत लोहा था। अतः उसे अशरीरीपन या ऊर्ध्वगामिताकी ज़रूरत नहीं थी। पर तुम वैष्णव फ़ार्मूलेको अस्वीकार करते हो और तुम प्रणय-भोगमें हमारी नक़लपर जो भोग-प्रधान संस्कृति गढ़ना चाहते हो वह तुम्हारी भूल है। तुम्हारा रुग्ण कुण्ठित मन उस मरण-तत्त्वको पचा नहीं पायेगा। हमें शैतान या मरण क्या फँसाता? हम तो उसकी दाढ़ी पकड़कर उससे मज़ाक़ करते थे। पर तुम कमज़ोर आदमी—तुम्हारे लिए ऊर्ध्वगामी अशरीरी वैष्णव भावके सिवा और कोई रास्ता शेष नहीं जो प्रणय-भोगके मरण-तत्त्वका परिहार कर सके। इसके सिवा तुम्हारी कहीं भी मुक्ति नहीं।

सरसोने हमें सुझाया कि इथाका (मेरी जन्मभूमि) पहुँचनेका मार्ग केवल ताईरेसियससे ही ज्ञात हो सकता है जो अन्ध तमसावृत मृतात्माओं-के देशमें रहता है। वहाँ बलि और अर्घ्य सामग्री लेकर जानेको उसने कहा। मेरे नाविक भयसे थरथर काँपने लगे। मेरा भी साहस दिलमें टूट चुका था! सरसीने कहा कि इसके सिवा और कोई उपाय नहीं। यह सुनकर ही मेरा दिल बैठ गया। मुझे आगे जीना अनावश्यक लगा। जीवनकी धूप देखनेकी और लालसा नहीं रही। मैं अपने दुर्भाग्यपर रोने लगा। उस अन्ध-लोकसे लौटकर आजतक कौन आया है? क्या इतना व्यथा-भोग काफ़ी नहीं है, जो विधाताको सन्तोष दे सके! पर जानते हो सब व्यथाओंसे भी बड़ी एक व्यथा है। वह है गरिमाका बोध। यह जब सारी व्यथाओंको दबाकर ऊपर आ जाती है तो मनुष्यको बेचैन कर देती है, सिरपर कफ़न बँधवा देती है, और तब वह हाथसे साँपका फण भी निर्भय होकर पकड़ लेता है। कुछ क्षण बाद यही गरिमा-बोध मेरे अन्दर जगा। दो क्षण पहले ही मैं जो कबूतर था—अब गरुड़ बनकर बाज़पर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

झपटनेको बेचैन हो गया। यमलोक क्या चीज़ है! मनुष्यके साहसको नयी 'खूंटी', नया सीमा-प्रस्तर, गाड़नेके लिए मैं पागल हो उठा। मैंने नाविकों-को ढाढ़स बँधाया, उनके टूटे दिलोंको जोड़ा। मदिरावर्णी समुद्रकी गरजती तरंगोंके सिरपर श्वेत झागोंका मुकुट था और उनपर पदाघात करते हुए हमारा जलपोत आगे बढ़ा, जिसे मनुष्यके दो हाथ संचालित कर रहे थे। मुझे घमण्ड हो गया कि मैं मनुष्य हूँ।

हम चलते गये—मदिरावर्णी समुद्र और ताम्रवर्णी कठोर आकाशके नीचे दिन-रात—बिना विराम चलते गये—जौ चबाते, मदिरा पीते, आराम करते और बारी-बारीसे डाँड़ चलाते हम आगे चलते गये। चारों ओर एकान्त था और उस भयंकर एकान्तका उपहास करता हुआ हमारा लघु जलपोत। हमारे हृदयमें भय और साहस बारी-बारीसे आते थे। धीरे-धीरे एकान्त प्रगाढ़ होता गया। वातावरण साफ़ और नीरंगकी जगह धुँधला होने लगा। आखिर हम धरतीके सीमान्तपर पहुँच ही गये। यह चिरन्तन अनादि तुषारका देश है। जहाँ सूर्य उगता और डूबता तो जरूर है, पर उसकी तेज रोशनी धुन्धकी इन असंख्यक परतोंको काट नहीं पाती। और, रात्रिने अपने काले उत्तरीयसे इस अभागे देशका मुख सदैवके लिए ढँक दिया है। यही 'परसीफोन'[1] का घना कुंज है। सरसोके निर्देशके अनुसार हमने अपनी नौका यहीं बाँधी और यमलोकमें प्रवेश किया। हाथसे हाथ नहीं सूझता था।

आगे एक विस्तृत शैलशिखर मिला। उसके एक ओरसे धधकती लपटोंकी नदी आती है और दूसरी ओरसे खारे आँसुओंकी नदी। दोनों इस शिखरके पास मिलकर एक धारा बनती हैं और वह खौलते आँसुओंके साथ वैतरणी (Acheoron) से जा मिलती है। हमने एक वेदी बनायी।

---

१. यह पाताल-लोककी देवी हैं। काले पत्रोंवाली लताओंसे ढँका हुआ इसका निकुंज मृत्यु-लोकके द्वारके समीप है। यमने इससे विवाह किया है। ग्रीक विश्वासोंके अनुसार मृत्युलोक पातालमें है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक वित्तेका वर्गाकार गड्ढा खोदा। पहले दूव और मधु गिराया फिर नीली मदिरा और पानी। उसके ऊपर जौका आटा छिड़का। यम श्वानकी ओर मुँह करके यम देवताकी प्रार्थना करते हुए एक सफ़ेद और एक काली भेंड़की बलि दी। ताजा काला रक्त गिरते ही प्रेतोंकी सेना हाहास बाँधकर टूट पड़ी। मेरे साथियोंके चेहरे भयसे पीले पड़ गये। हिम्मत बाँधकर मैंने तलवार घुमाते हुए प्रेतोंको दूर रखा। झुण्डकी झुण्ड मृतात्माएँ हमारे चारों ओर गिद्धोंकी तरह फुदकती, झपट्टा मारती हुई छा गयीं। सारा वातावरण काला हो उठा। उनके बीच तीन-चार भयभीत साथियोंके साथ मैं। प्रेतोंकी काली घटाके बीचसे ताइरेसियसकी प्रेत-छाया निकली। उसने ताज़े रक्तका पान किया। मुझे लौटनेका मार्ग बताया। उसकी सन्तुष्टिके बाद अन्य मृतात्माओंको मैंने रक्तपानका अवसर दिया। पहले अपनी माँको। फिर ट्रॉययुद्धके साथियोंको जिनकी बग़लमें खड़ा होकर मैंने शस्त्र चलाया था। सेनापति अगामेननकी प्रेतात्मासे बातचीत हुई और घर लौटकर उनकी पत्नी-द्वारा उनकी हत्याकी कथा ज्ञात हुई। ये प्यासी मृतात्माएँ एकके बाद एक झपटते पक्षियोंकी तरह आती थीं, जीभसे लपलप रक्त चाटती थीं, फटी आँखोंसे सदैव मेरी ओर देखती जाती थीं, भय और अपरिचयके भावसे। पर अर्घ्य-पानके प्रभावसे पूर्वजन्मका स्मरण हो जाता था और उनकी आँखोंमें परिचयकी धूप खिल उठती थी।

इस यमलोकसे हम फिर लौटे। सकुशल लौटे। मुझसे पूर्व देवराज इन्द्रका पुत्र हेराक्लीज यहाँसे सकुशल लौटा था अपने बाहुबलसे। और मेरे बाद अफ्रोदीती (रति) का पुत्र ट्रोजन वीर एनियास। इस तीनके बाद चौथा नहीं। पर इन तीनोंमें मैं ही माता-पिता—दोनों पक्षोंसे मानव था। शेष दोनों अर्ध-देवता थे।

मृत्युदेशसे सरसीके द्वीपको फिर लौटा और उस देवनारीकी सहायतासे ताइरेसियसके बताये मार्गपर अपने घर इथाकाके लिए रवाना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो गया। हमने समुद्र तटपर वरुण और आदित्यकी स्तुति की। दोपहरकी परिपक्व वेलामें, जब आकाश और समुद्र किसी पकी अनुभूतिसे थिर हो गये थे, ऐसा लगता था कि इस पके वातावरणमें किसी बड़ी घटनाका प्रसव होनेवाला है, हमने पालोंको तान दिया। हम वहाँसे मत्स्य कन्याओंकी शिलाके समीपसे होकर गुज़रे। ये सुन्दरी मत्स्य रमणियां समुद्रके शिलाखण्डोंपर बैठकर अपने सौन्दर्य एवं मधुर संगीतसे नाविकोंको आकर्षित करती हैं और वे उनके पास तक जानेका प्रयत्न करते हैं कि जहाज़ जलराशिमें छिपी नुकीली चट्टानोंसे टकराकर चूर-चूर हो जाता है। मुझे यह सब मालूम था और मैंने नाविकोंके कानोंमें मोम भरवा दिया था। और मैं स्वयं उस गानको सुनना चाहता था अतः अपनेको मस्तूलके खम्भेसे जड़कर बँधवा दिया था जिससे लयके तीव्र आकर्षणसे खिचकर मैं समुद्रमें न कूद पड़ूँ। मुझे अब भी स्मरण है, जैसे ही मत्स्य कन्याओंके द्वीपकी ओर हम बढ़े, लगा कि हवा किसी सम्मोहनके आकर्षणसे शान्त हो उठी है, वातावरणमें साँस नहीं रही है और लहरें किसी मन्त्रसिद्धधारिणीके प्रभावसे सो गयी हैं। हमने तुरत पाल तान दिया और उस भयंकर सौन्दर्यकी छायासे भागे।

जाते-जाते हम सूर्य देवताके द्वीपसे जा लगे। वहाँ आदित्य देवताकी पवित्र गायें चर रही थीं। हम भूखसे पीडित थे। क्षुधा हमारी आँतोंको भेड़ियेकी तरह चबा रही थी। बरदास्त नहीं हो रहा था। ताइरेसियसके निर्देशका स्मरण कर मैंने अपने आदमियोंको उन गायोंसे दूर रहनेको कहा था। पर देवताओंके शापकी छाया मेरे सिरपर बैठी थी। मैं सो गया। मुझे निद्रित देखकर बुभुक्षित नाविकोंने कुछ गायोंकी बलि दी, चर्बीकी आहुति दी और मांसको स्वयं खाया। मैं जगा। मैंने सारे अनर्थको देखा! पर कोई उपाय नहीं था। काटे हुए पशुओंकी खालें रँभाने लगती थीं। भुने जाते हुए बछड़ोंके मांससे रँभानेका स्वर उठता था। सूर्यका क्रोध हमारे आगे-पीछे अगल-बग़ल सर्वत्र अदृश्य रूपसे खड़ा रहा और छह दिन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तक हम वृषभ-मांसका भक्षण करते रहे। सातवें दिन हमारे सिरपर लगातार वज्र कड़कने लगा। उदास और भयंकर मौनके बीच गरजती लहरोंका हाहास उस कड़कके सामने दब-सा गया। मैं देखता रहा, मेरे पोत चूर-चूर होकर बिखर गये। मेरे नाविक उन लहरोंपर वैसे ही छटपटा रहे थे जैसे तप्त बालूमें मछलियाँ। देवताओंके क्रोधसे कोई अभागा घर नहीं लौट पाया। पर बचा रहा अकेला मैं, अपने जन्मको धिक्कारता हुआ, उस रात्रिको धिक्कारता हुआ जब माँके गर्भमें मेरा बीजारोपण हुआ, उस दिनको धिक्कारता हुआ, जिसने मुझे प्रसव दिया। अपने मनुष्यजन्मको धिक्कारता हुआ मैं दीन-हीन-सा लहरोंपर असहाय हो बहने लगा—नौ दिन नौ रात बहता-बहता अप्सरा कैलोप्सोके द्वीपकी चट्टानोंसे जा लगा। उनमें-से एक चट्टानपर संज्ञाहीन होकर गिर पड़ा।

होशमें आया, तो देखा कि ऊषाकी नरम गुलाबी उँगलियाँ आसमानपर निकल आयी हैं। सामने अंगूरोंसे भरी लहलहाती घाटीपर नज़र पड़ी। मैं भूखा और प्यासा था। मुझे लगा चारों ओर प्राण ही प्राण उगे हैं। धीरे-धीरे अंगूरोंको चबाते हुए आगे बढ़ा। बिना किसी स्वाद-बोधके चबाता रहा। पहले इन्द्रियबोध लौटा। धीरे-धीरे अंगूरोंके रसने मुझे फिरसे ओद्युसियस बना दिया। मैंने देखा—धूपमें हीरेकी तरह झलमलाती चार पतली जलधाराएँ इस प्रदेशको सींचती हैं। सामनेकी पहाड़ीपर चीड़ और देवदारुओंकी पाँतें एक-दूसरेके कन्धेपर खड़ी कोठा-दर-कोठा आकाशमुखी होकर उठती गयी हैं। मैं एक गुफाके पास आया, जो काले देवदारुओंसे घिरी थी। पर चारों ओर ख़ूबसूरत पक्षी नहीं, बल्कि चुटीले खगोंका बसेरा था! बाज़, उकाब और सींगोंवाले क्रुद्ध उलूक। उनकी कर्कशध्वनि और उनकी झपटती उड़ानें और रोषयुक्त चाल। साथ ही गुफाके भीतरसे आता करघेकी खटपट और एक रमणीका अपूर्व सुरीला कण्ठ। वातावरणमें सौन्दर्य और कर्कशताका विचित्र मेल था। मैं घुसा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और भीतर जाकर अप्सरा कैलीप्सोसे भेंट हुई। इस अपूर्व अप्सरा प्रियाके तन-मनका भोग पांच वर्ष तक करता रहा। पर रात्रिके सुनसानमें मैं जब जग जाता था, तो लगता था कि कहीं कुछ खाली है, कहीं कुछ भीतर-भीतर भटक रहा है। कहीं भीतर कुछ मथने लगता और ओस भींगे आसमानके नीचे बाहर शिलाखण्डपर मैं रात-रात-भर बैठा रहता। यह अथक भोग, यह मरणकी उपासना, यह सब मुझे अच्छा नहीं लगता था। कैलीप्सो मुझे अमरता और अक्षय जीवन देनेको तैयार थी। मैं मनुपुत्र हूँ, मेरी अपनी निजी गरिमा है, मनुष्यके रूपमें। मैंने सनातन लालसाके भीतर मामूली प्रणय पशुके रूपमें अनन्त काल तक जीना स्वीकार नहीं किया। गरिमा-बोध और स्मृति-दंश, यही दो बातें बहुत सालती रहीं; क्योंकि मैं वही नहीं रह गया था जो मैं ट्रायके समय था। दस वर्षों तक निरन्तर रक्तपात करते-करते मैं मर्महीन पाषाण हो गया था। ट्राय युद्धके अन्तिम दिन जब मेरी ही धूर्ततासे ट्रायका संहार हुआ था, मेरे हाथोंमें ट्रोजन नायक हेक्टरका शिशु आ गया—अबोध शिशुकी टाँगें पकड़कर मैंने चट्टानपर पटक दीं। वह क्षीण स्वरमें 'काँय' से करके एक ही बारमें मांसका लोथड़ा हो गया। वही क्रूरकर्मी 'इलियड'का नायक मैं ओद्युसियस दस वर्षों तक क्रूर भाग्यकी चोट बरदाश्त करते-करते, रोते-रोते और कुछ हो गया था और इसीसे 'ओडेसी' में पाया जानेवाला मैं कुछ और ही हूँ। कुछ लोगोंने तो मुझे प्रथम रूमानी नायक कहकर स्वीकार किया है।

मैंने कैलीप्सोके प्रस्तावको अस्वीकृत कर दिया। वेदनाबोध और करुणाकी सारी शक्ति उस आदिम बोधमें विकसित नहीं थी—पर स्मृति-दंशके माध्यमसे कुछ अव्यक्त-सा मेरे अन्दर कभी-कभी मथता था। यह क्या था ? क्या करुणा और वेदनाबोधका प्रथम स्फुरण था ? शायद। हो सकता है। जो हो, पर इस लालसा-भोग और अन्तर्मन्थनके बीच पाँच वर्षों तक वहाँ जीता रहा। फिर देव-मण्डलीने देवपुत्र हरमीसको भेजकर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कैलीप्सोके प्रणयसे मुझे मुक्त करवाया और मैंने उसकी आज्ञासे अपने हाथोंसे एक अनगढ़ बेड़ा तैयार कर लिया। फिर एक दिन मैंने उस अप्सराके अनावृत कन्धोंपर विदाका चुम्बन दिया, और इथाकाकी ओर चल पड़ा। इस बार वरुण कृपावान् था। कुछ दिन बाद इथाका पहुँचकर अपनी प्रिया पिनीलोपी, अपनी धर्मपत्नी, को इथाकाके मूर्ख उद्धत तरुणोंसे घिरा पाया, जो उसे प्रणय-निवेदनसे तंग किया करते थे। उसका जीवन दूभर हो गया था। मैंने अपनी कूटबुद्धिसे उन तरुणोंका वध करके अपनी पत्नी, अपने राज्य और अपने पुत्र टेलीमेकसका पुनः वरण किया।

क्यों? क्या कहते हो? क्या मैंने अप्सरा कैलीप्सोके बाद राजकुमारी नासिकाके प्रसंगकी बात छोड़ दी है? मेरे मित्र, यह एक रहस्य है। तुम 'ओडेसी' के आधारपर सम्भवतः यह कह रहे हो परन्तु 'ओडेसी' का सम्पूर्ण भाग होमरका लिखा हुआ नहीं है। यह सब क्षेपक प्रसंग है। यहाँ होमरकी पौत्रीकी अपनी अस्मिताका भोग है। सुनता हूँ कि उसने लिख मारा है कि कैलीप्सोके यहाँसे चलनेके बाद ओद्युसियसका जलपोत क्रुद्ध वरुणके आदेशसे दिग्गज लहरोंने रौंद डाला। वह बहता बहता फिसीयनोंके देशमें जा लगा। वहाँ तटपर रात-भर बेहोश रहा। सवेरे आँख खुली तो देखा—संयोगवश उस देशकी राजकुमारी वहाँ खड़ी है। वह कपड़े धोने समुद्रतटपर आयी थी। यद्यपि ऐसा हो सकता था। उस युगमें राजकुमारियाँ कपड़े धोती थीं। राजा अपनी खेती करता था। इथाका-स्वामी होते हुए भी मैं हल चलाता था, खेतमें खटता था। हमारे युगका समाजतन्त्र और ही था। परन्तु यह समूची घटना उस होमर-पौत्रीकी कल्पना है। वह अपने अन्धे पितामह-द्वारा रचित काव्यके अन्दर मेरे रूमानी चरित्रको पढ़कर मेरे पौरुषपर सम्मोहित हो गयी थी। उसने लिखा है: ओद्युसियसने उस राजकुमारीको जब पहले-पहल देखा तो उसे वह वैसी ही लगी जैसी उस कच्चे हरित देवदारु शिशुकी वयःसन्धिपर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

फूटती देहलता लगी थी, जो आदित्य शैलपर नील आकाशकी पृष्ठभूमिमें फूट रहा था। उसने यहाँ अपनी आत्म-रतिको व्यक्त किया है। उसके अनुसार मेरे घर पहुँचनेका श्रेय इस राजकुमारीके पिताको है। पर तथ्य तो यह है कि यह सब कल्पना है।

घर आकर लगा कि बासी धरती, बासी आकाश, बासी रस-भोग बहुत दिनों तक मुझे मोह-मूढ़ नहीं रख सकते। इस मायाकी लगाम मैंने अपने पुत्रके गले डाली और दुबारा तुड़ाकर भागा। गरजती लहरोंके सफ़ेद झाग-भरे शीशेंको डाँड़ोंसे पीटते हुए।

बात तो यह थी कि इन तीस वर्षोंमें मैं अपनी जन्मभूमिके लिए अजनबी बन गया था। इथाकाके जो तरुण थे, हमउम्र थे, वे मेरे साथ जय-यात्रापर चले गये। कुछ ट्रायके मैदानमें खेत रहे और कुछने जल-समाधि ली। देवताओंके क्रोधसे उन अभागोंमें-से एक भी घर नहीं लौटा। अब इथाकामें मुझे पहचाननेवाले दो-चार बूढ़े थे। मैं ही लोगोंके बीच अजनबी था। मेरे मनके भीतर एक निर्वासनका भाव भर गया। अपने लोगोंके बीच; तब भी अकेला निर्वासित और अजनबी। मेरी जान-पहचान तो समुद्रकी लहरोंसे थी। मैं प्रतिदिन समुद्रतटपर आकर बैठता और लगता कि मुझे उन लहरोंपर चढ़कर कोई पुकार रहा है। मैं इस आमन्त्रणको बरदाश्त नहीं कर सका। लोग कहते थे कि ओद्युसियसपर देवशाप है, वह प्रायश्चित्त करनेके लिए जा रहा है। पर कैसा देवशाप था, यह वे मूर्ख अनगढ़ गँवार समझ नहीं पाते थे, अरे यह देवशाप तो सनातनसे प्रत्येकके सिरपर बैठा है। भोंथर मनवाले इसे महसूस नहीं कर पाते। पर जिनके मनका लोहा गलकर इस्पात बन चुका है, जिन्होंने मनको पीटकर तेज धारदार बना लिया है, वे इसके आमन्त्रणको वीरकी तरह स्वीकार करते हैं और किसी अर्थहीन, किसी निरर्थकके प्रति अपनेको समर्पित कर देते हैं।

यों तुम कहोगे कि निरर्थक यह उपासना मुझे अपने पिता सिस्युफस-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ो मिली है। यह मेरा आनुवंशिक गुण है। मेरे पिता ने जीवनकालमें मृत्युको ही छलपूर्वक क़ैद कर लिया था। मरणोपरान्त उन्होंने स्वर्गमें देवराजकी सत्ताके प्रति विद्रोह किया। फलतः उन्हें एक बड़ा-सा पत्थर शिखरपर चढ़ानेका शाप मिला। वे पत्थर ठेलते हैं, फिर वह लुढ़क जाता है, फिर उसे ऊपर तक ठेलकर ले जाते हैं, फिर वही बात। इस प्रकार अविराम गतिसे यह निरर्थक कार्य आज तक वे करते जा रहे हैं। पिता जानते हैं कि यह कार्य निरर्थक है—पर वे शापग्रस्त हैं इसे निरन्तर करनेके लिए। परन्तु मेरे निरर्थक कर्मके पीछे शाप नहीं, यायावर-रसका आकर्षण है, विराट् मानवेतर सत्ताओंके सम्मुख ताल ठोंककर सामने आ जानेका साहस है, मनुष्यकी जय है। इसे मत भूलो कि सिस्युफसका निरर्थक कर्म शापबाधित है और ओद्युसियसका गरिमा बोधसे जनित।

मेरी अन्तिम यात्रा अर्थ-व्यर्थ, निरुद्देश्य, निरर्थक है। पर यह तो बताओ इस भयंकर देवचक्रके नीचे, नियति और जेउसके कठोर शासन-तन्त्रकी छायामें आखिर कौन-सा कर्म है, जो सार्थक लग सकता है? आज तुम्हारे ऊपरसे चक्रका भार उठ गया है; पर उसकी जगह दूसरे अन्य क्रूर निर्मम चक्रोंकी रचना हो गयी है। मनुष्य स्वतन्त्र कब रहा और कब है? वृषभ-मांस सुरा-पान और स्त्रीकी शय्या—इनके अतिरिक्त और कोई चौथी शरण है? इन तीनके लिए सार्थक कर्म करनेकी अपेक्षा मेरे-जैसोंका निरर्थक कर्म अधिक महिमामय है। ताशके महल, बालूकी भीत और साम्राज्योंके प्राचीर ये सार्थक कर्म केवल ऊपरकी तीन कोटियों-की स्वतन्त्रताके लिए हैं। लानत है ऐसे 'सार्थक' कर्मपर—इससे मेरा निरर्थक ही भला। मनुष्यकी गरिमा इसी निरर्थककी महिमामें निहित

१. होमरीय परम्पराके अनुसार ओद्यु सियस लायर्तीसका पुत्र था। पर रॉबर्ट ग्रेव्स्ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ग्रीक मिथ्स्'में दिखाया है कि उसकी माँका विवाहके पूर्व 'सिस्युफस'से सम्पर्क हो गया था। प्राचीन ग्रीक परम्पराओंसे यह तथ्य अनु-मोदित है कि वह गुप्त रूपसे सिस्युफसका पुत्र था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, जिसकी आकांक्षाने मुझे निरुद्देश्य समुद्रकी लहरोंसे मल्ल-युद्ध करनेको बाध्य किया, जिसने ग्रीक सम्पाती आइकेरसको डैने बांधकर सूरज छूनेको बाध्य किया, जिसने सिद्धार्थ गौतमको अमृतकी खोजमें जंगलोंकी खाक छाननेको बाध्य किया और जिसके स्पर्शसे मिट्टीका मनुष्य ऋषि कवि बन जाता है। उपयोगितामें जीनेवाले शूकर-कूकर सदृश पण्य-संस्कृतिके मानव इसे भले ही निरर्थक मानें। मेरी अन्तिम यात्राका वर्णन 'ओडेसी'में नहीं है। होमरका विषय ही था 'ओद्युसियसका गृहागमन'। वह मैंने स्वतः मध्ययुगके एक कवि (मेरा तात्पर्य दान्तेसे है) को सुनाया था। उस कविकी कल्पना भटकते-भटकते मृतात्माओंके काले देशमें आयी और मुझसे मिली। अग्निज्वालामें लिपटी निरन्तर चक्कर काटती मेरी बेचैन आत्माने उस कविको बताया था कि अन्तिम यात्रामें हमारा जलपोत उस सीमा-स्तम्भ तक चला गया, जिसे हेराक्लीज़ने स्थापित किया है और जहाँ सूर्य डूबता है। अस्ताचल बिन्दुपर खड़े होकर हमारी इच्छा हुई अस्ताचल-के उस पार जानेकी। मैंने नाविकोंके हृदयमें साहस भरा, उनकी कल्पना-की प्यासको जगाया और पाल तानकर हम पश्चिमाभिमुख हो गये। हम-लोग सूर्य-प्रकाशित आकाश मण्डलको पार कर गये थे—आगे आनेपर न ता सप्तर्षि थे और न उत्तरी दिशाका द्योतक तारा ध्रुव। चारों ओर समुद्र ही समुद्र था। हम कच्ची मछलियाँ चबाते रहे। आँखोंमें नीला नशा छाया था। और आगे। और आगे अन्तमें हम एक विशाल नोंकदार शैल-शिविरके पास पहुँचे। ऐसी लम्बवत् ऊँचाई मैंने जीवनमें कभी नहीं देखी थी। अचानक खूनी बर्फ़की आँधियाँ चारों दिशाओंसे उठने लगीं। दूसरे ही क्षण हमारी नौकाके ऊपर लहरोंका रेल-पेल था। यही हमारा अन्त है—निरर्थकके प्रबल आकर्षणमें।

■ ■ ■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्तमें

क़ायदेसे तो ये बातें पहले ही कहनी चाहिए थीं। पर बातें ये व्यक्तिगत हैं अतः अन्तमें कहना ही ठीक है। यदि मेरी लोभी-लालची जिजीविषा ऋण-शोधमें असमर्थ है, तो कमसे कम इस ऋणको पंच-परमेश्वर-पाठकके समक्ष स्वीकारें तो सही! इसीसे लगता है कि यदि ये व्यक्तिगत बातें न कहूँ, मौन ही रह जाऊँ, तो मेरे 'स्व'की लोभी-लालची जिजी-विषाको कभी भी मुक्ति, विराम या क्षमा नहीं! अतः कहना ही है!

बचपनमें कभी लिखता था—'माधुरी', 'विशाल भारत' आदि अच्छे पत्रोंमें। बीचमें मौन रहा। सन् १९६२ में प्रोफेसर हुमायूँ कबीरकी इतिहास-सम्बन्धी ऊलजलूल मान्यताओंपर मेरे एक तर्कपूर्ण और क्रोधपूर्ण निबन्धको पढ़-कर पं० श्रीनारायण चतुर्वेदीने मुझे घसीटकर मैदानमें खड़ा कर दिया और हाथमें धनुष-बाण पकड़ा दिया। अब मैं अपने राष्ट्रीय और साहित्यिक-उत्तरदायित्वके प्रति सजग था। मैं 'सरस्वती' में लगातार लिखने लगा। पर ये निबन्ध मूलतः वैचारिक थे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मेरे ललित निबन्धोंका प्रथम स्वागत किया डॉ० धर्मवीर भारतीने। सच तो यह है कि वे ऐसा न करते तो ये अथवा अन्य ललित निबन्ध नहीं लिखे गये होते। यह मैं निस्संकोच स्वीकारता हूँ। भारतीजीके अतिरिक्त श्री बालकृष्ण राव, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन और श्री रमेश बक्षीके द्वारा दी गयी शुभाशंसा और समर्थनसे भी मेरे रचनात्मक व्यक्तित्वका अजनबीपन कटा, हिन्दीके सारे मोर्चोंसे दूर रहकर प्रवासमें भोगी जानेवाली निष्कासन-यन्त्रणा कम हुई। परन्तु इन सम्पादकोंसे भी अधिक मैं ऋणी हूँ जाने-अनजाने विशाल पाठक-समूहका, जिनके अन्दर ज़्यादातर बिहार, मध्यप्रदेश, पूर्वी यू० पी०, गुजरात, महाराष्ट्र और असमके लोग हैं। उत्तर प्रदेशसे जो पत्र मिले वे प्रायः प्रतिष्ठित लेखकोंके थे। 'मामूली' एवं अज्ञात जनता-जनार्दनसे एक भी पत्र नहीं। विशेषतः पश्चिमी उ० प्र० से। क्या इसका अर्थ यह तो नहीं है कि पूर्वी यू० पी०, बिहार, बंगाल, असम, गुजरात, मध्यप्रदेश, राजस्थान और महाराष्ट्रमें एक क़िस्मका मन विकसित हो रहा है और पश्चिमी यू० पी० तथा दिल्लीमें अन्य क़िस्मका? यों यह शंका मात्र है निष्कर्ष नहीं। यहाँपर मैं इस समय आभार स्वीकार कर रहा हूँ, निष्कर्ष निकालने नहीं बैठा हूँ।

संग्रहका नाम है: 'प्रिया नीलकण्ठी'। 'निर्वासन और नीलकण्ठी प्रिया' नामक निबन्धसे यह नाम निकाला गया है। शिव तो नीलकण्ठके नामसे विख्यात हैं ही। मेरी कल्पना, मेरी प्रतिमा भी विषपायी नीलकण्ठी है। दुःखके या उल्लासके भीतर ज़हर होता है। उस ज़हरको यह खींच-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर स्वयं श्यामकण्ठ हो जाती है और धरतीको जो कुछ देती है वह शुद्ध प्राण और रस रहता है। आलोचनाकी भाषामें इसे 'साधारणीकरण' कहेंगे, गो कि मेरा मतलब अधिक व्यापक है। एक दूसरा भी बिम्ब है जो नये साहित्यका केन्द्रीय बिम्ब बना हुआ है: सलीबपर यन्त्रणा भोगता मसीहा। मसीहा सारे विश्वकी यन्त्रणाको स्वयं भोगता है जिससे विश्व यन्त्रणासे मुक्त हो जाये। पर प्रिया नीलकण्ठीकी 'इमेज' (बिम्ब) इस यन्त्रणा भोग और विषपानमें साम्य होते हुए भी, अधिक स्वस्थ और 'स्व'-स्थ है। सलीबपर टँग जानेपर चरम क्षणमें मसीहाकी आस्था टूट जाती है, ईश्वर उसका साथ छोड़ देता है (Lord, Lord, why hast Thou forsaken me) जब कि यहाँ विषपान देवत्वको और उच्चतर करके 'स्व'-स्थ कर देता है। मुझे लगा कि मेरे निबन्धोंके स्वभावके अनुकूल 'प्रिया नीलकण्ठी'का बिम्ब ही पड़ेगा। यों कोई आक्षेप करे कि इसके पीछे मेरा हिन्दुस्तानी या हिन्दू मन है, तो उससे क्या कहूँ? और हिन्दू तो है ही, हूँ। अपने बापको कैसे कह दूँ कि यह मेरा बाप नहीं। और यदि ऐसा कहूँ तो मुझसे बढ़कर कमीना और कौन होगा?

मुझे स्वर्ण-पीत वासुकियों, नील हरित कर्कोटकों और रक्तवर्ण तक्षकोंसे कुछ नहीं कहना है। मैं सहस्रशीर्षा पुरुष हिन्दुस्तानको दसों नख जोड़कर नमन करता हूँ: "बाबा, तुमने दिया है, तुम्हारी ही चीज़ है। हे पितामह, ग्रहण करो!" इस सहस्रशीर्षा पुरुष सनातन हिन्दुस्तानका ध्यान आते ही मुझे अपने स्वर्गीय बड़का बाबा स्मरण आ जाते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। बचपनमें जब खेत घूमने जाता था तो आजकी ही तरह कुत्तों और स्यारोंको देखकर मारे डरके उनकी छायामें सटकर चलता था। सहस्रशीर्षा हिन्दुस्तानकी छाँहका ही आज भी मुझे बल है। मुझे किसी माईके श्रेयकी पत्तल नहीं छीननी है क्योंकि न तो कवि हूँ और न कहानीकार। निबन्धकार-की महत्त्वाकांक्षाएँ सीमित होती हैं। अब तुलसीदासकी कुछ मधुर चौपाइयों ('बहुरि बन्दि खलगन सतिभाये....' आदिका स्मरण करके एक किनारे मैं भी जम रहा हूँ।

"देव दनुज नर नाग मुनि प्रेत पितर गन्धर्व
बन्दउँ किन्नर रजनिचर कृपा करहु अब सर्व"

अन्तमें अपने ललित निबन्धोंके इस प्रथम संग्रहको स्वीकार करने और प्रकाशन करनेके लिए मैं भारतीय ज्ञानपीठके प्रति आभार प्रदर्शन करके अपनी बात समाप्त करता हूँ। 'ज्ञान-पीठ'के सुधी संचालक भाई साहब (श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन) ने प्रथम आग्रहपर ही प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। एक नये लेखकके लिए प्रकाशक जुटाना और वह भी 'ज्ञानपीठ'-जैसा स्टैण्डर्ड प्रकाशक, कितना कठिन है, इसे जो भोग चुके हैं वे ही जानते हैं। मेरे ही पास तीन संग्रहोंके लायक़ विविध प्रकारके अच्छे निबन्ध रखे हैं। ऐसी हालतमें एक पदचारी और पथचारी साहित्यिकके लिए भाई साहबके इस अकारण स्नेहका कितना मूल्य है, इसे शब्दोंकी तराज़ूपर अभिव्यक्त करना नहीं चाहता।

— कुबेरनाथ राय

नलबारी कॉलेज
नलबारी-(असम)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भारतीय ज्ञानपीठ

उद्देश्य

ज्ञानकी विलुप्त अनुपलब्ध
और अप्रकाशित सामग्रीका
अनुसन्धान और प्रकाशन
तथा लोक-हितकारी
मौलिक साहित्यका निर्माण

संस्थापक
श्री शान्तिप्रसाद जैन
अध्यक्षा
श्रीमती रमा जैन

रु . सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी–५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi